# योगदर्शन

का

हिन्दी भाष्य

जिसको

पं० राजाराम प्रोफैसर डी. ए. वी. कालेज

लाहौर ने निर्माण किया।

और

**साहित्य प्रचारक मण्डल लाहौर**

ने

बाम्बे यन्त्रालय लाहौर में मुद्रित कराके प्रकाशित किया.

सम्वत् १९७९ वि० सन् १९२२

द्वितीयवार २,०००]

[मूल्य १।।)

# विषय सूची ।

## भूमिका



## समाधि पाद

साधन पाद

## विभूति पाद

कैवल्य पाद

# भूमिका ।

योग का उद्देश्य

वेद में जड़, चेतन, लोक, परलोक, धर्म, अधर्म इत्यादि लौकिक, अलौकिक विषयों के सम्बन्ध में जो सचाइयां बतलाई हैं, योग उनके प्रत्यक्ष देखने का मार्ग है । योगमार्ग पर चल कर हम अपने आत्मा को प्रत्यक्ष देख सकते हैं, परमात्मा के दर्शन कर सकते हैं, प्रकृति और उसके विकारों को असली रूप में देख सकते हैं, अपने जन्म जन्मान्तरों का पता लगा सकते हैं, और धर्माधर्म के फल देने की रीति को प्रत्यक्ष देख सकते हैं । वस्तुतः योग हमारे पास वह साधन है, जो हमारी सारी शंकाएं मिटा देता है, सारे झगड़ों से पार कर देता है, क्योंकि वह हर एक बात को असलीरूप में दिखला देता है । मत मतान्तरों के सारे झगड़े निपट जाएंगे, जब वह धर्म की सचाइयों को योग द्वारा प्रत्यक्ष देखने की चेष्टा करेंगे । हथेली पर रक्खी हुई वस्तु जैसे प्रत्यक्ष होती है, धर्म के सारे भेद ठीक वैसे ही प्रत्यक्ष होते हैं, जब वह योग के प्रदीप से देखे जाते हैं । योग का उद्देश्य यही है, कि वह हर एक वस्तु को प्रत्यक्ष दिखलाता हुआ प्रकृति और पुरुष के भेद को प्रत्यक्ष दिखलाए, और प्रकृति की सारी फांसों को तोड़ कर पुरुष को उससे मुक्त करदे ।

योग के पाद और उनका विषय

योग दर्शन के चार पाद हैं, समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद । समाधिपाद में सबीज और निर्बीज समाधि और उसके उपयोगी सारे विषयों का वर्णन है । साधन-

पाद में योग के साधनों का वर्णन है । विभूतिपाद में उसकी विभूतियों का वर्णन है, और कैवल्य पाद में मोक्ष का वर्णन है। इन में से पहले दो पाद का विषय अधिक उपयोगी है। क्योंकि उपाय में किया हुआ यत्न फलवान् होता है। सो कैवल्य का उपाय समाधि और समाधि का उपाय योग के अङ्ग हैं। यही इन दोनों पादों का विषय है । इतने से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, प्रकृति की फाँसों से छूट जाता है, और अपने स्वरूप को प्रत्यक्ष देख लेता है।

सिद्धियें न उस का बहुत कुछ संवारती हैं, न उसके लिये आवश्यक हैं। कैवल्य का निर्णय भी वहां पहुंच कर आप ही हो जाता है। उस के लिए पहले ही फैसला कर रखने की इतनी ज़रूरत नहीं, जितनी कि उसके साधन की ज़रूरत है।

**योग का मूल** — योग का सब से पहिला बीज हम वेदसंहिता को पाते हैं। वहां हम इसे उपासना और ज्ञान के रूप में वर्णन हुआ देखते हैं, और इसके साधन में मनुष्य के वह सारे कर्त्तव्य उपयुक्त हैं, जो वेद में उपदेश दिये गये हैं। परमात्मा के दर्शन का यह उपाय जो वेद में वर्णन किया है, सर्वाङ्ग परिपूर्ण है, और जो इस मार्ग पर चले हैं, उन्हों ने इस की साक्षी दी है:-

**एष पन्था ब्रह्मणा ह्यानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च ।** ( बृह० आ० उप० ४ । ४ । ६ )

यह रस्ता ब्रह्मा ( वेद के जानने वाले वा वेद ) से ढूंढा गया है, इस मार्ग से वह जाता है, जो ब्रह्मवित् है, पुण्यकृत् है, और तेजस्वी है।

उपनिषदों में योग का वर्णन — उपनिषदों में आत्मा के साक्षात् दर्शन का उपाय योग को वर्णन किया है—

**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।** (बृह० आ० उप० ४।५।६)

हे मैत्रेयि ! आत्मा है, जो देखने योग्य है, सुनने योग्य है, मनन करने योग्य है, और निदिध्यासन करने (ध्यान देने) योग्य है ।

यहां आत्मा का दर्शन तो फल है और, श्रवण, मनन निदिध्यासन उसके उपाय हैं । इन में निदिध्यासन ध्यान है, और ध्यान ही समाधि है, ( देखो योग० ३ । ३ )

**यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह**
**बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ।१०**
**तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।**
**अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ । ११**

( कठ० उप० ६ । १०--११ )

जब पांचों ज्ञानेन्द्रिय मन के साथ स्थिर हो जाते हैं, और बुद्धि भी नहीं डोलती है, उसको कहते हैं--सब से ऊंची अवस्था । १० । यह जो इन्द्रियों की निश्चल धारणा है, इसी को योग मानते हैं । उस समय वह ( योगी ) प्रमाद ( अपने आप को जो भूला हुआ था, उस ) से रहित होता है, क्योंकि योग प्रभव और अप्यय (=उत्पत्ति और लय का स्थान=भान्त-

रज्ञान की उत्पत्ति और बाह्य ज्ञान की लय का स्थान) है ।११।
( और देखो श्वेता० उप० अध्याय २ )

श्वेताश्वतर उपनिषद में आत्मा और परमात्मा के दर्शन का उपाय

आत्मदर्शन का वह प्रकार जो श्वेताश्वतर उपनिषद् में वर्णन किया है, योग के प्रकार से मिलता है ।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य । ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत । दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ॥९॥

समे शुचौ शर्करावन्हिवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः । मनोऽनुकूले नतु चक्षुः पीड़ने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०॥

छाती, गर्दन और सिर इन तीनों को सीधा रख कर इन्द्रियों को मन के साथ हृदय में रोक कर और ओंकार की नौका पर सवार होकर भय के लानें वाले सारे प्रवाहों से पार उतर जाए ॥ ८ ॥ युक्त चेष्टा वाला होकर प्राणों को रोके, और प्राण के क्षीण होने पर नासिका से श्वास ले, सचेत

सारथि जैसे घोड़ों की चञ्चलता को रोकता है इस प्रकार अप्रमत्त होकर मन को रोके ॥ ६ ॥ स्थान जो सम है, शुद्ध है, कंकर अग्नि और बालू से शून्य है, शब्द, और जलाशय आदि से मन के अनुकूल है, आंखों को पीड़ा देने वाला नहीं, एकान्त है, निर्वात है, ऐसी जगह पर चित्त को परमात्मा में लगाए ॥ १० ॥

इस तरह जिस पुरुष ने परमात्मा में चित्त को मग्न कर दिया है, उसके सामने जो चिन्ह ( निशान ) प्रकट होते हैं, उनका वर्णन यह है :—

**नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत् स्फटिकशशीनाम् । एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥ (श्वेता० २।११)**

योग करते समय ब्रह्म के प्रकट करने वाले यह रूप पहले दीखते हैं, कुहर, धुआं, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनूं, विद्युत्, बिलौर और चन्द्र, यह सब रूप दीख कर जब शान्त हो जाते हैं, तब ब्रह्म का प्रकाश होता है ॥ ११ ॥

योग में हुई प्रवृत्ति के यह शारीरिक चिन्ह बतलाए हैं :—

**लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादः स्वर सौष्ठवं च । गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥ १२ ॥**

**न तस्य रोगो न जरा न दुःखं प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥ १३ ॥**

शरीर हलका हो जाता है, आरोग्य रहता है, विषयों की लालसा मिट जाती है, कान्ति बढ़ जाती है, स्वर मधुर हो जाता है, गन्ध शुभ होता है, मल मूत्र थोड़ा होता है। यह योग की पहली प्रवृत्ति है ॥ १२ ॥ जिसने योग का अग्निमय शरीर पालिया है, उसके लिये न रोग है, न बुढ़ापा है, न दुःख है ॥ १३ ॥

फिर योग के मार्ग पर चलते हुए योगी को जो आत्मा का साक्षात् दर्शन होता है, उसको इस तरह वर्णन किया है :-

**यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधातम् । तद्वाऽऽत्मतत्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥ १४ ॥**

यदि कोई रत्न मट्टी से लिथड़ा हुआ हो तो जैसे वह धोया हुआ तेजोमय हो कर चमकता है, इस प्रकार (शुद्ध हो कर चमकते हुए) आत्मतत्व को देख कर मनुष्य शोक से परे हुआ कृतार्थ हो जाता है ॥ १४ ॥

योगदर्शन हमें बतलाता है, कि जब आत्मा अपने आप को देख लेता है, तो वह अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, यही कैवल्य (मुक्ति) है। पर उपनिषद् हमें इससे आगे ले जाती है, उपनिषद् बतलाती है, कि जब हमने आत्मतत्व को देख लिया है, फिर उस आत्मतत्व से ब्रह्मतत्व को देखते हैं, यह मुक्ति है :—

**यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १५ ॥**

फिर जब युक्त हो कर आत्मतत्व के दीपक से ब्रह्मतत्व को देखता है, जो ब्रह्मतत्व अजन्मा, अटल और सारे तत्वों से शुद्ध है, तब इस देव को जानकर सारी फांसों से छूट जाता है ( मुक्त होता है ) ॥ १५ ॥

यद्यपि उपनिषद् हमें यहां योग से आगे पहुंचाती है, तौभी योग में यह कोई विरोध वा त्रुटि नहीं। योग भी हमें ईश्वर का स्वरूप बतलाता है, और उसका प्रणिधान सिखलाता है ( देखो योग० १ । २३-२८ ) ॥

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है, माना कि योगदर्शन में ईश्वर और उसके प्रणिधान का वर्णन है, तथापि मुख्य विषय यहां पुरुष का अपने स्वरूप में अवस्थित होना ही वर्णन किया है, इसी को कैवल्य माना है, ईश्वर प्रणिधान भी आत्मदर्शन के उपाय के तौर पर वर्णन किया हैं, न कि मुख्यतया, जैसा कि कहा है :—

**ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ( योग० १ । २९)**

तब उपनिषद् और योग की मुक्ति में भेद क्यों नहीं ? इस के उत्तर में हम यही कहते हैं, हां निःसंदेह इनमें भेद नहीं भेद परम तात्पर्य पर न पहुंचने में प्रतीत होता है। ब्रह्म के दो

स्वरूप वर्णन किये हैं, शुद्ध और शबल* । मुक्ति उसके शुद्ध स्वरूप के दर्शन से होती है, और ईश्वर प्रणिधान उसके शबल रूप का होता है । उसके शबल स्वरूप की उपासना और दर्शन चित्त द्वारा होता है, पर शुद्ध स्वरूप मन की पहुंच से परे है । उस शुद्ध ब्रह्मतत्व को चित्त से नहीं, किन्तु शुद्ध आत्मतत्व से ही देख सकते हैं, और कोई उपाय उसके दर्शन का नहीं । और आत्मतत्व शुद्ध उस समय होता है, जब वह चित्त से विविक्त हो जाता है ( निखिर जाता है), यही चितिशक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित होना है । चिति शक्ति दृक्शक्ति है, उसे अपने बाहर देखने के लिये चित्त की ज़रूरत है, पर अपने आप को वा अपने अंदर देखने के लिये चित्त की ज़रूरत नहीं। ज्ूंही पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित होता है, अपने अंदर अपने परमात्मा को देखता है, इस के लिये उसे कोई अलग उपाय नहीं करना पड़ता । वस्तुतः सारा उपाय अपने स्वरूप में अवस्थित होने तक है। उसके आगे ब्रह्म के दर्शन स्वतःसिद्ध हैं । इसीलिये चिति शक्ति की स्वरूप में प्रतिष्ठा कह कर ही कैवल्य को समाप्त कर दिया है। पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाए, तो फिर ब्रह्म दर्शन उसके लिये स्वतः प्राप्त है। इस अभि प्राय से योग में मुक्ति का विषय यहां तक ही समाप्त किया है ॥

और जब तक आत्मतत्व से नहीं देखा जाता, तब तक ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप का दर्शन नहीं हो सकता, इसलिये ईश्वर प्रणिधान भी पहले आत्मतत्व की प्राप्ति कराता है, और फिर

---

* शुद्ध उसका स्वस्वरूप और शबल हिरण्यगर्भ, विराट् आदि है (सविस्तर देखो वेदोपदेश प्रथम भाग ) ॥

उस आत्मतत्व से ब्रह्मतत्व के दर्शन होते हैं। आत्मा चित्त के साथ शबल हो कर परमात्माके शबल स्वरूप को देखता है, और शुद्ध हो कर उसके शुद्ध स्वरूप को देखता है। चित्त गुणमय है, गुणों से परे उस की पहुंच नहीं। इसलिये चित्त से प्रणिधान शबल का होता है, तब उसके अनुग्रह से आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो कर अपने अन्दर उसके शुद्ध स्वरूप को देखता है। इसी लिये जहां आत्मतत्व से ब्रह्मतत्व के देखने का वर्णन है, वहां यह साथ कहा है 'सर्वतत्वैर्विशुद्धम् (श्वेता० उप० २।१५)

और शुद्ध जो है, वह आत्मतत्व से ही देखा जाता है, न कि मन से, और उसी की प्राप्ति में अभय है और परम आनन्द का उपभोग है, यह भी स्पष्ट वर्णन किया है :—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन
(तै० उप० ब्रह्म० ९)॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(कठ० उप० ६।१४, बृह० ४।४।७)।

जहां से वाणी और मन बिन पहुंचे लौटते हैं, ब्रह्म के उस आनन्द को जानता हुआ पुरुष सर्वतो अभय होजाता है।

जब सारी कामनाएं जो इसके हृदय में रहती हैं, छूट जाती हैं, तब मर्त्य (मरने वाला मनुष्य) अमृत बन जाता है, और यहां ब्रह्म को प्राप्त होता है॥

योग के अनुष्ठान के लिये ऐसे गुरु की शरण लेनी चाहिये, जो स्वयं इस मार्ग पर चल कर सब कुछ साक्षात् देख चुका है। वही इस मार्ग का दर्शक हो सकता है, और वही सारे भयों से बचाकर पार उतार सकता है। पर अनुष्ठानी के लिये उसका अनुष्ठान भी गुरु का काम देता है। जैसा व्यासभाष्य ( ३ । ६ ) में कहा है :-

योग का उपदेष्टा

**भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवो पाध्यायः, कथम्, एवमुक्तम्-'योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते। योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्' ॥**

यह भूमि इस भूमि के अनन्तर ( व्यवधान रहित पीछे) की है, इस विषय में योग ही उपाध्याय ( गुरु ) है, जैसा कि कहा है। योग से योग को जानना चाहिये, योग योग से प्रवृत्त होता है ( पहला योग अगले योग की प्रवृत्ति का हेतु है ) जो योग से अप्रमत्त रहता है, वह योग में चिर तक आनन्द मनाता है॥

योग का अधिकारी वह है, जिस की आत्मा में और परलोक में श्रद्धा है, यह श्रद्धा शुभ कर्मों के अनुष्ठान से बढ़ती है, मोक्ष मार्ग को सुनते ही जिन के रोम खड़े हो जाते हैं, और आंखों में आँसू आजाते हैं, वह जन हैं, जिन्हों ने पूर्व जन्मों में शुभ कर्म किये हैं, वह इसके अधिकारी हैं।

योग का अधिकारी और अनधिकारी।

और जिन का हृदय शुभ कर्मों की वासना से शून्य है, उनको इन अलौकिक विषयों पर आक्षेप करने में ही रुचि होती है, न कि निर्णय में। 'दोषाद् येषां पूर्वपक्षे रुचि र्भवति,अरुचिरुच निर्णये' दोष वश से जिन की पूर्वपक्ष (अर्थात् कोई कर्मों का फल नहीं, न परलोक है, न कोई परलोक में जाने वाला है, इत्यादि ) में रुचि होती है, और ( पच्चीस तत्वों के) निर्णय में रुचि नहीं होती । वह इसका अनधिकारी है, उसे अभी न्याय वैशेषिक से शिक्षा लेनी चाहिये, यह उसे योग का अधिकारी बनाएंगे ॥

योग की प्रक्रिया

पदार्थों के निरूपण में अत्यल्प भेद को छोड़ कर साङ्ख्य और योग की प्रक्रिया एक सी है। यह सारा जड़ जगत् सत्व, रजस्, तमस् इन गुणों का सन्निवेश मात्र ( तरतीबमात्र ) है। गुणों की साम्यावस्था प्रकृति वा प्रधान है, उस से महत्तत्व उत्पन्न होता है, महत्तत्व से अस्मिता (अहङ्कार), अस्मिता से पञ्चतन्मात्र (शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र ) और ग्यारह इन्द्रिय ( पांच ज्ञानेन्द्रिय-श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, घ्राण। पांच कर्मेन्द्रिय-बाणी, हाथ, पांओ, पायु और उपस्थ, एक अन्तःकरण चित्त-मन ) उत्पन्न होते हैं । पञ्चतन्मात्र से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। प्रकृति मूल कारण है, वह किसी का कार्य नहीं,स्थूल सूक्ष्म जगत् सारा साक्षात् वा परम्परा से प्रकृति का परिणाम हैं। अधिक विस्तार के लिये देखो २।१९ की व्याख्या।

चिति शक्ति इस जड़ जगत् से भिन्न है, वही पुरुष है,

पुरुष ही इस जगत् का द्रष्टा है, यह जगत् उसका दृश्य है। और पुरुषविशेष ईश्वर है, जिस के संकल्प से यह प्रकृति काम करती है। इस प्रकृति का काम पुरुष को भोग देते देते अन्ततः मुक्त कर देना है। मुक्ति अवस्था में पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित होता है, यही कैवल्य है। और संसारावस्था में वह इन बाह्य दृश्यों को देखता है अर्थात् इन में रहता है, यही व्युत्थान है। क्षिप्त, मूढ़, और विक्षिप्त यह तीनों व्युत्थान की अवस्था हैं, और इनकी अपेक्षा से एकाग्रवृत्ति योग की अवस्था है, तथापि निरुद्धावस्था की अपेक्षा से एकाग्रवृत्ति भी व्युत्थान ही है॥

व्याख्या में सूत्रों की संगति, पदार्थ, अन्वयार्थ, और भाष्य अलग २ दिखलाए हैं। जो समस्त पद हैं उन में डंडी (—) देकर पद का भेद किया गया है, जहां उचित जान कर अलग २ दो पदों को एक बन्धनी ( ) में लिखा है, वहां विराम ( , ) का चिन्ह दिया है। जहां पदार्थ से ही अन्वयार्थ खुल जाता है, वहां अन्वयार्थ अलग नहीं दिया। पर पदार्थ करने में अन्वय के लिये जो पद बढ़ाया गया है, वह अन्योक्ति " " के अन्तर्गत है॥

राजाराम॥

---

# योगदर्शनम्

## समाधिपादः

आत्मा और परमात्मा का साक्षात् दर्शन चाहने वालों के लिये योग ही एक उपाय है, उस योग की सविस्तर शिक्षा देने के लिये भगवान् पतञ्जलि योगशास्त्र का आरम्भ करते हैं-

**अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥**

पदार्थ-( अथ ) अब=आरम्भ करते हैं ( योगाऽनुशासनम् ) योग की शिक्षा देने वाला शास्त्र ।

अन्वयार्थ-योगानुशासन नामक शास्त्र* आरम्भ करते हैं।

---

* शास्त्रकार शास्त्र के आदि में प्रायः इन चार बातों को जितला देते हैं-(१) इस शास्त्र का विषय क्या है ? (२) प्रयोजन क्या है ? (३) इन दोनों के साथ शास्त्र का क्या सम्बन्ध है ? और (४) इसका अधिकारी कौन है ? इन चारों का नाम अनुबन्ध चतुष्टय हैं, सो इस सूत्र से भगवान् पतञ्जलि ने इन चारों की सूचना की है । इस शास्त्र का विषय योग है, योग का ज्ञान देना इसका प्रयोजन है, और योग आत्मा और परमात्मा की प्राप्ति का साधन है, यह प्रयोजन-श्रुति, स्मृति,

संगति—योग किस को कहते हैं :—

## योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

पदार्थ—( योगः ) योग (चित्त-वृत्ति-निरोधः) चित्त की वृत्तियों का रोकना ।

---

इतिहास में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। योग साधन है और मुक्ति साध्य है, इस लिए योग और मुक्ति का साध्यसाधनभाव सम्बन्ध है। शास्त्र योग का प्रतिपादन करने वाला है इसलिये शास्त्र का और योग का प्रतिपाद्य प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है, योग का जिज्ञासु इसका अधिकारी है।

कर्त्तव्य का उपदेश अथवा धर्म वा हित का उपदेश शासन है, जिस में यह उपदेश है उसी का नाम शास्त्र है। अनुशासन उस उपदेश का नाम है जिस से पहिले ही उस विषय का शासन विद्यमान है। इस सूत्र में शासन की जगह अनुसाशन कहने से भगवान् पतञ्जलि बे यह बोधन किया है, कि मुझ से पहिले भी योग का उपदेश हो चुका है और यही ठीक है क्योंकि सब से पहिले तो योग का उपदेश वेद में है फिर उपनिषदों में। फिर यह शिष्यपरम्परा से आता हुआ भगवान् पतञ्जलि तक पहुंचा है और भगवान् पतञ्जलि ने इस शास्त्र का उपदेश किया है।

अनुशासन शब्द जब अपने विषय के आगे लगता है तो उस विषय के शास्त्र का नाम बन जाता है। जैसे महाभाष्य में "अथशब्दानुशासनम्" की व्याख्या में भगवान् पतञ्जलि लिखते हैं—"शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्" इसी प्रकार "योगानुशासनम्" के भाष्य में लिखा है "योगानुशानं नाम शास्त्रम्" ऐसा ही हमने लिखा है। पर इस का यह अर्थ भी ठीक है। अब योग का अनुशासन करते हैं।

योग, चित्त की वृत्तियों का निरोध (रोकना) है।

भाष्य—यह जो सृष्टि हम देखते हैं, यह बाहिर है और आत्मा भीतर है। तब भीतर बैठा हुआ आत्मा इस को किस प्रकार देख सकताहै? इसका उत्तर यह है, कि बाहिर के पदार्थ का प्रतिबिम्ब हमारे नेत्र की पुतली पर आपड़ता है। उस से सूक्ष्म नाड़ियों में क्रिया होती है, और वह आकार मस्तिष्क (दिमाग) में पहुंचता है, मस्तिष्क के द्वारा चित्त में पहुंचता है। चित्त और आत्मा दोनों एक जगह हैं। अब वह दृश्य जो बाहिर था, आत्मा के पास पहुंच गया है। आत्मा द्रष्टा है यह दृश्य है। अब द्रष्टा और दृश्य में कोई व्यवधान नहीं रहा। दृश्य उस के पास पहुंच गया है, इस लिये द्रष्टा अपने दृश्य को देख लेता है।

जब बाहिर का दृश्य चित्त पर पहुंचा है, तो अब चित्त उस पहिले आकार से एक नये आकार वाला बन गया है। इसी आकार को **वृत्ति** कहते हैं, **आत्मा** इस वृत्ति को अनुभव करता है, उस अनुभव का नाम **बोध** वा **दृष्टि** है, और आत्मा **बोद्धा** वा **द्रष्टा** है।

यह वृत्तियां आत्मा के सामने उत्पन्न होती हैं, इसलिये आत्मा को वृत्तियों का साक्षी कहते हैं। क्योंकि साक्षी वही है, जिस के सामने वह घटना हुई हो।

ये वृत्तियां अनेक प्रकार की होती हैं। देखने में जो चित्त की वृत्ति है, सुनने में उस से भिन्न हो जाती है। और सोचने में इन दोनों से भिन्न हो जाती है। देखने में भी भिन्न २ पदार्थों के देखने से वृत्ति भी भिन्न २ होती चली जाती है। इस प्रकार

ये वृत्तियां असंख्यात हैं, चित्त सर्वदा इन्हीं वृत्तियों में बदलता रहता है। जिस अवस्था में ये सारी वृत्तियां लीन हो जाती हैं, उस अवस्था का नाम योग है।

चित्त की पांच अवस्थाएं होती हैं (१) क्षिप्त (२) मूढ (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध।

(१) सारी सृष्टि सत्व, रजस्, और तमस्–इन तीन गुणों से रची गई है। चित्त भी इन्हीं गुणों का परिणामविशेष है। चित्त प्रकाश-स्वभाव है, इसलिये सत्वगुणी है। प्रवृत्ति स्वभाव है, इस लिये रजोगुणी है, और काम करने से रोकने का स्वभाव रखता है इस लिये तमोगुणी है। जब जिस गुण की प्रधानता होती है, उसी का स्वभाव प्रकट होता है। चित्त की बनावट में सत्वगुण प्रधान है, इसलिये प्रकाश उस अवस्था में भी साथ रहता है, जब चित्त में रज और तम प्रधान होते हैं। और इसी लिये इस को चित्तसत्त्व कहते हैं। जब चित्त-सत्व के साथ रजस् और तमस् काम करते हैं, तब द्रष्टा ऐश्वर्य्य को और विषयों को प्यार करता है। क्योंकि सत्व की प्रधानता से चित्त वस्तु के तत्व का पता लगाना चाहता है, पर तमोगुण उस तत्व को ढांपे रखता है। तत्व का पता न लगने से रजोगुण उस को टिकने नहीं देता, झट दूसरी ओर फैंक देता है, तब वस्तु की असलायत (तत्व) नहीं प्रकाशित होती, चित्त को इसके साथ केवल प्यार ही रह जाता है। यही क्षिप्तावस्था है। यह अवस्था साधारण संसारियों की है।

(२) जब रजस् को जीत कर केवल तमस् फैल जाता है, तब अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य्य की ओर झुकता

है। यही मूढ़ावस्था है। यह अवस्था नीच प्रकृति वाले लोगों की होती है।

( ३ ) जब तमस् बिल्कुल क्षीण हो जाता है, रजस् की भी मात्रा ही शेष रहती है। तब चित्त मलपोंछे दर्पण की नाईं पूरा २ चमकता है। और धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य्य की ओर झुकता है।

इस अवस्था में रजस् का थोड़ा सम्बन्ध बना रहने से चित्त कभी २ स्थिर हो जाता है अधिक अस्थिर ही रहता है। यह अस्थिरता इस की स्वाभाविक होती है, अथवा व्याधि आदि* अन्तरायों से होती है। यह विक्षिप्तावस्था है। यह अवस्था जिज्ञासु जनों की होती है। यह भी योग की अवस्था नहीं, क्योंकि इस में प्रधान विक्षेप है, स्थिरता अप्रधान सी है।

( ४ ) जब रजस् का लेश भी शेष नहीं रहता, तब चित्त एकाग्र होता है।

वायु जैसे दीपक को चञ्चल रखता है। इसी प्रकार रजस् चित्त को चञ्चल रखता है। जैसे बिना वायु की जगह दीपक निश्चल हो जाता है वैसे रजस्शून्य चित्त निश्चल हो जाता है। तब स्थूल से क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम में प्रवेश करता हुआ प्रकृति तक साक्षात् कर लेता है। और चित्त और आत्मा के भेद को दर्शाता है। यह अवस्था पदार्थ के सत्य २ स्वरूप को प्रतीत कराती है, क्लेशों को दूर हटाती है। बन्धनों को ढीला करती है और निरोध को सम्मुख करती है। यह

---

* देखो ( योग० १। २९ )

अवस्था योग की है, इसका नाम **सम्प्रज्ञातयोग** है ।' इसका सविस्तर वर्णन १ । १७ में करेंगे ।

( ५ ) सम्प्रज्ञात अवस्था से भिन्न अवस्था की वृत्तियां संसार में बांधती हैं, यह दोष देख कर इनसे ऊपर उठने की इच्छा उत्पन्न हुई थी और इसलिये इन वृत्तियों को रोक कर सम्प्रज्ञात अवस्था में पहुंच गए और यहां आत्मा और चित्त का भेद दर्शन हुआ इसका नाम **विवेकख्याति** है । पर यह विवेकख्याति भी एक गुणों की अवस्था है। चित्त जिस प्रकार बाह्य विषयों को अपने स्वरूप में रख कर आत्मा को दिखलाता था, इसी प्रकार इस विवेकख्याति को भी उसी ने अपने स्वरूप में रखकर दिखलाया है । पर आत्मा अब अपने स्वरूप को अनुभव कर चुका है और यह भी अनुभव कर चुका है कि यह एकाग्रवृत्ति भी चित्त की ही एक अवस्था है, यह सदा नहीं रहेगी, पर मैं सदा रहूंगा। यह गुणों की अवस्था है, मैं निस्त्रैगुण्य हूं । यह दोष देख कर इस ख्याति से उस को वैराग्य* होता है । तब वह इस वृत्ति को भी दबा देता है । अब चित्त के अन्दर कोई वृत्ति नहीं । यही **निरुद्धावस्था** है । इसी का नाम **असम्प्रज्ञातयोग** है इसी का लक्षण इस सूत्र में किया है । 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' इति । †

सं०-इस अवस्था में आत्मा क्या करता है :—

---

* इसी का नाम पर वैराग्य है ( देखो योग० १ । १६ )

† इस लिये यही मुख्य योग है । सम्प्रज्ञात योग को इसी का साधन होने से योग कहा है जैसे कर्मयोग को ( २ । १ में ) योग कहा है । इसी अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित होता है,

## तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

पदार्थ-(तदा) तब (द्रष्टुः) द्रष्टा की (स्वरूपे) स्वरूप में (अवस्थानम्) अवस्थिति=ठहरना।

अन्वयार्थ--तब द्रष्टा (आत्मा) की अपने स्वरूप (अपने आप) में अवस्थिति होती है।

भाष्य---जिस प्रकार नाटक का देखने वाला सावधानता से देखता हुआ नाटक की सारी बातों को देखता है, पर

---

जैसा अगले सूत्र में है। सम्प्रज्ञात में स्वरूप में अवस्थिति नहीं होती, इस लिये यह लक्षण सम्प्रज्ञात का नहीं। निरोध की अपेक्षा सम्प्रज्ञात व्युत्थान है। यह (३।९) सूत्र में स्पष्ट है। वाचस्पति और विज्ञान भिक्षु भी ऐसा ही मानते हैं कि--

निरोधसमाधि मपेक्ष्य सम्प्रज्ञातोऽपि व्युत्थानमेव (१।३ पर वाचस्पति)

निरोधसमाधि की अपेक्षा सम्प्रज्ञात भी व्युत्थान ही है--

असम्प्रज्ञात समाधि मपेक्ष्य सम्प्रज्ञातो व्युत्थानम् (३।९ पर वाचस्पति)

असम्प्रज्ञात समाधि की अपेक्षा सम्प्रज्ञात व्युत्थान है।

असम्प्रज्ञातापेक्षया सम्प्रज्ञातोप्यत्र व्युत्थानं बोध्यम् (१।२ पर विज्ञानभिक्षु)

असम्प्रज्ञात की अपेक्षा सम्प्रज्ञात भी यहां व्युत्थान ही मानना चाहिये।

असम्प्रज्ञातापेक्षया सम्प्रज्ञातोपि व्युत्थानम् (३।९ पर विज्ञानभिक्षु)

अपने आपको भूला हुआ होता है उसकी जेब से कुछ निकाल लो, उसे पता नहीं। वह मानों वहां है ही नहीं। वह तो उस दृश्य में है, जिस को देख रहा है । जब वह खेल बन्द होता है, तब वह अपने आप को संभालता है । अब वह नाटक के दृश्य में नहीं अपने स्वरूप में है; अब उसकी जेब में हाथ डालो झट तुम्हारा हाथ पकड़ लेगा। इसी प्रकार आत्मा भी प्रकृति

---

इस प्रकार जब वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु असम्प्रज्ञात को ही मुख्य योग मानते हैं, तो फिर न मालूम इस लक्षण में सम्प्रज्ञात को भी सम्मिलित करने के लिये कोई उपाय न देख कर एक नया लक्षण क्यों बनाते हैं। उनका लक्षण यह है, क्लेशकर्माशयपरिपन्थी चित्तवृत्ति-निरोधः योगः। अर्थ--क्लेश ( २ । ३ में ) और कर्माशय ( २।१२ में ) का विरोधी चित्तवृत्ति निरोध योग है। यह लक्षण तो दोनों पर घटता है। पर यदि सूत्रकार को ऐसा अभिमत होता, तो यही सूत्र बनाता।

उनके सूत्र में कोई त्रुटि नहीं, किन्तु उनको ऐसा ही अभिमत ह। इसीलिये तो आगे इसी सूत्र को विवृत करने के लिये पहले वृत्तियां क्या हैं, इस का उत्तर दिया । फिर जब यह बात आई कि उन के रोकने का उपाय क्या है, तो अभ्यास और वैराग्य बतलाया । और वैराग्य में परवैराग्य भी है। अब प्रश्न यह है, कि यह जो परवैराग्य है, यह किस का साधन है। सम्पज्ञात योग का वा असम्पज्ञात का। यह सम्प्रज्ञात का तो फल है, उस का साधन कैसे हो सकता है। हां यह असम्प्रज्ञात का साधन अवश्य है । बस जिस निरोध का यह साधन है। उसी का इस सूत्र में लक्षण है। क्योंकि वह इसी निरोध का उपाय बतलाते हुए बतलाया है । अतएव यह लक्षण योग का पूरा लक्षण है। " योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः "

की इस नाट्यशाला में बैठ कर इसी के दृश्य को देख रहा है और वह इतना इस में मग्न है, कि अपने आप को बिल्कुल भूला हुआ है। मानों वह अपने स्वरूप में स्थित नहीं, इस दृश्य में स्थित है जिस को देख रहा है। निरोध अवस्था में जब यह खेल उस के सामने से बन्द होता है, तब वह अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

उपनिषद् (कठ० ६, १०--११) में भी योग का यही लक्षण है--

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह-
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ।१०।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हिप्रभवाप्ययौ ।११।

अर्थ--जब पांचों ज्ञानेन्द्रिय मन के सहित खड़े हो जाते हैं और बुद्धि भी नहीं डोलती उस ( अवस्था ) को परमगति कहते हैं ॥ १० ॥

यह जो इन्द्रियों की निश्चल धारणा है इसी को योग मानते हैं। उस समय वह ( योगी ) प्रमाद ( अपने आप को जो भूला हुआ था उस ) से रहित होता है, क्योंकि योग प्रभव और अप्यय है ( उत्पत्ति और लय का स्थान है, आन्तरज्ञान की उत्पत्ति और बाह्यज्ञान की लय का स्थान है )।

सं०—व्युत्थानावस्था में पुरुष का क्या स्वरूप होता है :-

## वृत्ति-सारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

पदार्थ--(वृत्ति-सारूप्यम्) वृत्ति के समानरूपता (इतरत्र)

दूसरी अवस्था में।

अन्वयार्थ-दूसरी अवस्था में (द्रष्टा की) अपनी वृत्ति के समान-रूपता होती है अर्थात् द्रष्टा वृत्ति के समान रूपवाला होता है।

भाष्य-निरोध से उठने पर आत्मा चित्त की वृत्तियों के समान रूप हो जाता है। तीनों गुणों के कारण वृत्तियां शान्त, घोर, और मूढरूप होती हैं। आत्मा भी उस २ अवस्था में अपने आप को शान्त, दुःखी और मूढरूप अनुभव करता है। पर व्युत्थान में भी योगी की वृत्तियां प्रायः शान्त ही रहती हैं, हां अयोगियों की वृत्तियां प्रायः अशान्त होती हैं। आत्मा योगी अयोगी दोनों का अपनी २ वृत्तियों के समानरूप होता है। पञ्चशिखाचार्य्य का सूत्र है :---

## एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्

एक ही दर्शन है ख्याति (वृत्ति) ही दर्शन है अर्थात् आत्मा वही कुछ देखता है जैसी वृत्ति है। यह नहीं होता कि वृत्ति अशान्त हो और आत्मा शान्त रहे, वा वृत्ति शान्त हो और आत्मा अशान्त रहे।

सं०-२ से ४ सूत्रों में योग का लक्षण, योग की अवस्था में आत्मा की स्थिति, और व्युत्थानअवस्था में आत्मा की स्थिति बतलाई है। अब जिन वृत्तियों के रोकने का नाम योग है, उन वृत्तियों का (५-११ तक) वर्णन करते हैं---

## वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥५॥

पदार्थ-(वृत्तयः) वृत्तियें (पञ्चतय्यः) पांच प्रकार की हैं

( क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ) क्लिष्ट ( राग द्वेष आदि क्लेशों की हेतु ) और अक्लिष्ट ( राग द्वेष आदि क्लेशों के नाश करने वाली )

अन्वयार्थ--वृत्तियें पांच प्रकार की हैं चाहे क्लिष्ट हों वा अक्लिष्ट।

भाष्य--बाह्य पदार्थ अनगिनत हैं, उनके कारण से अनगिनत ही वृत्तियां उत्पन्न होती हैं, उन सारी वृत्तियों को अलग २ तो कोई सहस्र आयुष में भी नहीं गिन सकता। पर वे सारी की सारी पांच भेदों में बट सकती हैं, जिन के नाम अगले सूत्र में कहेंगे। ये वृत्तियां जब राग द्वेष आदि क्लेशों को उत्पन्न करती हैं, तब ये क्लिष्ट होती हैं। जब मनुष्य किसी वस्तु को जान कर उस से सुख उठाता है, तो इस में उस का राग हो जाता है जब दुःख उठाता है तो द्वेष होता है। इस राग द्वेष के आधीन उन को प्राप्त करने वा हटाने के लिये शुभ अशुभ कर्म करता है। इस प्रकार क्लिष्ट वृत्तियों से वह बन्धन में पड़ता है। फिर अक्लिष्ट वृत्तियें वे हैं, जो क्लेशों के नाश करने वाली हैं। जब पुरुष अभ्यास और वैराग्य से अन्तर्मुख होता है। तब ये वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। यद्यपि क्लिष्ट वृत्तियों के संस्कार बड़े गहरे जमें हुए हैं, तथापि जिस समय शास्त्र, अनुमान और आचार्यों के उपदेश से अभ्यास और वैराग्य उत्पन्न हो जाते हैं, उस समय अक्लिष्ट वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। और फिर इन के भी संस्कार जमते हैं। वृत्तियों का यह स्वभाव ही है कि वे अपने सदृश संस्कारों को उत्पन्न करती हैं। क्लिष्ट वृत्तियें क्लिष्ट संस्कारों को उत्पन्न करती हैं, और अक्लिष्ट वृत्तियें अक्लिष्ट संस्कारों को। फिर उन संस्कारों से वैसी ही वृत्तियां आगे उत्पन्न होती हैं, इसलिये अब यहां आकर

दोनों में युद्ध होता है। दोनों के संस्कार विद्यमान हैं, हरएक वृत्ति दूसरी को दबा कर अपना उदय चाहती है। यदि यहां पहुंच कर पुरुष शास्त्र के अभ्यास और गुरु के उपदेश को श्रद्धा से धारण रखता है, तो अक्लिष्ट वृत्तियें जीत जाती हैं। वे क्लिष्ट संस्कारों को उखाड़ कर अपना राज्य जमा लेती हैं। जिज्ञासु को इस बात में सावधान करने के लिये सूत्रकार ने क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो भेद बतलाए हैं।

सं०--वे पांचों वृत्तियां ये हैं—

## प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः ॥६॥

अर्थ--(१) प्रमाण (२) विपर्यय (३) विकल्प (४) निद्रा, और (५) स्मृति।

सं०—क्रम से इनके लक्षण कहते हैं—

## प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥७॥

पदार्थ--(प्रत्यक्षाऽनुमानाऽऽगमाः) प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (प्रमाणानि) प्रमाण।

अन्वयार्थ--प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण हैं अर्थात् यह तीन प्रकार की प्रमाण वृत्ति है।

भाष्य-मैं देखता हूं, मैं सुनता हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैं यह अनुमान से जानता हूं, मैं यह शास्त्र से जानता हूं, इस प्रकार के ज्ञान का नाम बोध है। यह बोध यदि यथार्थ हो तो प्रमा कहलाती है, अयथार्थ हो तो अप्रमा। जिस वृत्ति से प्रमा (यथार्थ बोध) उत्पन्न होती है, उस का नाम प्रमाण है। प्रमाण तीन ही हैं प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। और

जितने प्रमाण माने गए हैं वे सब इन्हीं के अन्तर्गत होजाते हैं।

जब आंख से किसी पदार्थ को देखते हैं, तो उस समय जो चित्त की वृत्ति ( चित्त का आकार ) होती है, इसका नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है। फिर आत्मा ( द्रष्टा ) इस वृत्ति को देखता है और जानता है कि मैं यह पदार्थ देख रहा हूं। यही उस प्रमाण का फल है। इस का नाम प्रत्यक्षबोध है वा प्रत्यक्षप्रमा है। इसी प्रकार कान से सुनने, रसना से रस लेने, घ्राण से सूंघने, त्वचा से स्पर्श करने और मन से सुख दुःख के जानने में चित्त की वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है और पौरुषेय ( आत्मा का) बोध प्रत्यक्षप्रमा है।

किसी चिन्ह के सहारे जो किसी पदार्थ का पता लगाना है, उसे **अनुमान** कहते हैं। जैसे नदी की बाढ़ और मिटियाला पानी देख कर यह जानना कि ऊपर कहीं वृष्टि हुई है। यहां भी अनुमान करने में जो चित्त की वृत्ति है वह अनुमान है और उस से जो आत्मा में बोध होता है वह उसका फल-प्रमा है। अनुमान की प्रमा को **अनुमिति** कहते हैं और जिस पदार्थ का अनुमान होता है उसे **अनुमेय** कहते हैं।

वेद को पढ़ कर वा सुन कर अर्थ जानने वाले की जो चित्त की वृत्ति होती है वह **आगमप्रमाण** है और इस वृत्ति का जो आत्मा को बोध होता है, वही इस का फल-प्रमा है। शब्द को तो हम कानों से सुन लेते हैं, वह आगम प्रमाण नहीं, वह तो प्रत्यक्ष ही है।

अलौकिक विषय में तो वेद ही प्रमाण है, इसी लिये इस प्रमाण का नाम आगम (इहलाम) प्रमाण है, वेद के आश्रित

जो ऋषि मुनि और आचार्यों के वचन हैं, वे भी इसी प्रमाण के अन्तर्गत हैं। और कोई इस विषय में प्रमाण नहीं हो सकता है। साधारण मनुष्य को यह अधिकार नहीं, कि परलोक के विषय में कोई बात अपनी स्वतन्त्रता से कहे । परलोक की बात तो दूर है, लौकिक विषय में भी आप्त पुरुष ही प्रमाण हो सकता है। आप्त वह है जिस के जानने और कहने में कोई दोष न हो। भ्रान्ति के हेतु ये हैं-( १ ) विषय दोष-पदार्थ यदि दूर पड़ा है, तो उस से भले पुरुष को भी भ्रान्ति होती है। इस में उसका अपना दोष तो कोई नहीं, पर यदि जाकर दूसरों को कहेगा, तो उन को धोखा ही होगा । इसी प्रकार पदार्थ यदि दूर भी नहीं, पर वह ऐसी अवस्था में रक्खा है, कि उस से भ्रान्ति हो जाती है, अथवा द्रष्टा और दृश्य के मध्य में कोई ऐसी वस्तु है, जिस से भ्रान्ति होती है, अथवा मध्य में ऐसा शीशा है जिस से दृश्य अपने असली स्वरूप में दिखलाई नहीं देता, जैसा कि मदारी एक शीशे के पीछे खड़ा करके मनुष्य का सिर और धड़ कटा हुआ दिखला देते हैं। ऐसी अवस्थाओं में देखने वाला चाहे कितना ही भद्रपुरुष क्यों न हो, वह प्रमाण नहीं हो सकता। ( २ ) इन्द्रिय दोष-यदि वस्तु में कोई दोष नहीं, पर इन्द्रियों में दोष है, तो भी प्रमाण नहीं हो सकता। कामल रोग वाले को सब वस्तु पीली ही दिखलाई देती हैं। फिर दोष हीन इन्द्रिय भी उस पदार्थ के जानने में कुशल होने चाहियें, क्योंकि अनभ्यास की दशा में दोष रहित इन्द्रियों से भी धोखा हो जाता है। ( ३ ) मनो दोष-सब कुछ ठीक ठाक होने पर भी सावधानी से वस्तु देखी हुई होनी चाहिये असावधानी में धोखा हो जाता है । चोर जहां से एक अलपमूल्य

वस्तु को ले जाता है, वहीं पर बहुमूल्य वस्तु पड़ी रहजाती है, क्योंकि असावधानी में उसने उसे देखा नहीं। पदार्थ को ठीक २ जान कर भी दो दोष और हैं, जिन से बचा हुआ पुरुष आप्त कहलाता है। पहिला दोष विप्रलिप्सा=धोखे में डालने की इच्छा है। पुरुष जानता तो ठीक है पर तौ भी अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये धोखा दे जाता है। दूसरा दोष यह है कि वह लोगों के भले के लिये ही झूठ बोल देता हो, आप्त पुरुष में ऐसा कोई दोष नहीं होना चाहिये, जो ऐसा है, वही आप्त है, उसी का वचन प्रमाण है॥

सं०—प्रमाणरूप वृत्ति के भेद दिखला कर विपर्य्यवृत्ति का वर्णन करते हैं :—

## विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥८॥

पदार्थ-( विपर्ययः ) विपर्यय ( मिथ्या-ज्ञानम् ) मिथ्याज्ञान है ( अ-तद्-रूप-प्रतिष्ठम् ) जो उस के रूप में प्रतिष्ठित नहीं अर्थात् जो उस पदार्थ के असली रूप को प्रकाशित नहीं करता।

अन्वयार्थ—विपर्यय मिथ्याज्ञान है जो उस के रूप में प्रतिष्ठित नहीं।

भाष्य—यथार्थज्ञान वस्तु के असली रूप में प्रतिष्ठित होता है, अर्थात् उस के असली रूप को जितलाता है। पर मिथ्याज्ञान उस के असली रूप को प्रकाशित नहीं करता। सीप को सीप समझना यथार्थज्ञान है और सीप को चांदी समझना मिथ्याज्ञान है। पहला ज्ञान प्रमाण है और दूसरा विपर्य्यय।

यह विपर्यय ही अविद्या है और यही सारे अनर्थ का बीज है। अविद्या विद्या के उदय होने से नाश होती है। सीप को चांदी तब तक समझता है,जब तक उसका यथार्थज्ञान नहीं होता। जब यथार्थ ज्ञान होजाता है, तब मिथ्याज्ञान ( कि यह चांदी है) नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जब तक मनुष्य शरीर, इन्द्रिय और मन को आत्मा समझता है, तब तक अविद्या है। जब आत्मा को आत्मा समझता है, तब यह अविद्या दूर हो जाती है।

जिन साधनों से यथार्थज्ञान होता है, उन्हीं से मिथ्या-ज्ञान भी होता है। आंख से ही सीप को सीप देखते हैं और आंख से ही सीप को चांदी देखते हैं। जब विषय में इन्द्रिय में वा चित्त में दोष होता है तब मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है। जब तीनों निर्दोष होते हैं। तब यथार्थज्ञान उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अनुमान और आगम के विषय में जानना चाहिये।

संशय वृत्ति भी विपर्यय के अन्तर्गत ही समझनी चाहिये, क्योंकि " यह सीप है वा चांदी है ", इस संशय मे भी पदार्थ का वास्तव रूप प्रकाशित नहीं होता।

सं०—विकल्पवृत्ति का वर्णन करते हैं :—

## शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।९।

शब्दार्थ—(शब्द-ज्ञाना-ऽनुपाती) शब्द के ज्ञान का अनु-गामी अर्थात् शब्दज्ञान के पीछे आने वाला (वस्तु-शून्यः) वस्तु से शून्य ( विकल्पः ) विकल्प।

अन्वयार्थ—शब्दज्ञान का अनुगामी और वस्तु से शून्य विकल्प है *।

भाष्य—जब कोई कहता है कि मेरा हाथ पानी से जल गया, तो इस को सुन कर सुनने वाले की जो वृत्ति है वही विकल्प है। यह ज्ञान वस्तु से शून्य इसलिये है कि वास्तव में पानी ने हाथ नहीं जलाया, पानी के अन्दर जो अग्नि है, उसने हाथ जलाया है। तथापि इन कहे हुए शब्दों को सुन कर एक ज्ञान उत्पन्न हो गया है।

यह वृत्ति प्रमाण नहीं क्योंकि प्रमाण का विषय सच्चा होता है। पर इस का विषय सच्चा नहीं। पानी से हाथ का जलना इस का विषय है और यह ठीक नहीं, इसी लिये यह वस्तु से शून्य है।

यह वृत्ति विपर्यय भी नहीं। विपर्यय तब तक रहता है, जब तक वस्तु का असली रूप नहीं दीखता। जब असली रूप दीखता है तो विपर्यय मिट जाता है। पुरुष सीप को चांदी तभी तक कहता है, जब तक भ्रान्ति है। जब सीप को सीप देख लेता है। फिर न उस को चांदी समझता है, न कहता है, प्रत्युत यह कहता है कि यह चांदी नहीं है सीप है। विकल्प में यह बात नहीं होती, जो लोग इस बात को जानते हैं, कि पानी के अन्दर की आग हाथ जलाने वाली है, पानी नहीं, वे भी ऐसा कहते और समझते हैं, कि पानी से मेरा हाथ जल

---

* शब्द और ज्ञान जिस के पीछे आते हैं और वस्तु से शून्य है वह विकल्प है। अर्थात् यह ज्ञान वस्तु से शून्य है ऐसा जानने वाले विवेकी भी वैसा ही कहते और समझते हैं। (विज्ञानभिक्षुः)।

गया । इस लिये यह वृत्ति प्रमाण और विपर्यय इन दोनों से अलग एक स्वतन्त्र ही है ।

यह वृत्ति वहां होती है जहां अभेद में भेद वा भेद में अभेद आरोप किया जाता है। जैसे काठ और पुतली दो वस्तु नहीं, तथापि काठ की पुतली इस कहने में दो प्रतीत होती हैं जैसे चैत्र की गौ यहां सचमुच दो हैं । और पानी और आग दो वस्तु हैं, पर पानी जलाने वाला है इस कहने में उन दोनों का भेद नहीं किया ।

सं०—निद्रावृत्ति का वर्णन करते हैं :—

## अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥१०॥

शब्दार्थ-(अभाव-प्रत्यया-ऽऽलम्बना) अभाव की प्रतीति को आश्रय करने वाली (वृत्तिः *) वृत्ति (निद्रा) निद्रा—

---

* प्रश्न—" वृत्तयः पञ्चतय्यः " से लेकर वृत्तियों का प्रकरण चला ही है फिर इस सूत्र में " वृत्तिर्निद्रा " यहां वृत्ति पद लिखना व्यर्थ है । जैसा पहले सूत्रों में भी और अगले सूत्र में भी वृत्ति पद नहीं लिखा ।

उत्तर—प्रमाण, विपर्यय आदि वृत्तियों के विषय में परीक्षक लोगों का विवाद नहीं । सब के सब इन वृत्तियों को वृत्तियां मानते हैं, पर निद्रा को कई लोग वृत्ति नहीं मानते, इस लिये आचार्य ने वृत्ति पद पर बल दिया है, अर्थात् निद्रा भी वृत्ति है ।

प्रश्न—और वृत्तियां तो समाधि को रोकती हैं, इस लिये उन का रोकना उचित है । पर निद्रा तो एकाग्र के तुल्य ही है । समाधि के लिये उस का निरोध क्यों करना चाहिये ।

अन्वयार्थ-अभाव की प्रतीति को आश्रय करने वाली वृत्ति निद्रा है।

भाष्य—जब मनुष्य गाढ निद्रा से उठता है, तो कहता है कि मैं सुख से सोया रहा, मुझे कोई खबर नहीं रही। अब प्रश्न यह है, कि यह जो खबर न रहने की खबर (अर्थात् ज्ञानाभाव की प्रतीति) है, यह भी तो एक ज्ञान है। और यह ज्ञान अब नया नहीं हो रहा क्योंकि अब हम बेखबर नहीं, अब तो सब कुछ जान रहे हैं, किन्तु यह ज्ञान निद्रा अवस्था में पहले हो चुका है और अब उस का स्मरण हो रहा है। यदि उस समय यह ज्ञान न होता, तो अब इस का स्मरण भी न होता। अतएव निद्रा में ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं होता, किन्तु स्वप्न और जाग्रत की वृत्तियों का अभाव होता हैं। यही अभाव 'मुझे कोई खबर नहीं रही' इन शब्दों से प्रकाशित किया है। पर इस अभाव का पता लगाने वाली वृत्ति उस समय भी विद्यमान रहती है यही निद्रा वृत्ति है।

सं०—क्रम से प्राप्त स्मृति का वर्णन करते हैं:—

## अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः ॥११॥

शब्दार्थ—(अनुभूत-विषया-ऽसम्प्रमोषः) अनुभव किये हुए विषय का न चुराया जाना (स्मृतिः) स्मृति।

अन्वयार्थ—अनुभव किये हुए विषय का न चुराया जाना स्मृति है।

भाष्य—जब किसी वस्तु को अनुभव करते हैं, तो उस

---

उत्तर-एकाग्र के तुल्य भी निद्रा तमोमयी होने से सबीज, निर्बीज समाधि की विरोधिनी है, इस लिए यह भी रोकने योग्य है।

अनुभव के चित्त पर संस्कार पड़ते हैं उन संस्करों से फिर स्मृति होती है । अनुभव के सदृश ही संस्कार होते हैं और संस्कारों के सदृश ही स्मृति होती है ।

स्मृति का विषय अनुभव के बराबर होता है वा उससे न्यून होता है, अधिक नहीं होता ।

स्वप्न भी एक स्मृति है । जो स्मृति जाग्रत में होती है उस में स्मर्तव्य विषय नहीं दिखलाई देता । स्वप्न में स्मर्तव्य विषय भी दिखलाई सा देता है ।

स्मृति को सब के अन्त में इसलिये रक्खा है, कि प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पांचों के ही अनुभव से स्मृति होती है ।

प्रश्न—जो पुरुष को क्लेश देते हैं, उनका निरोध उचित है, अविद्या आदि क्लेश तो ऐसे हैं, वृत्तियां नहीं, फिर वृत्तियों का निरोध क्यों किया जाये ।

उत्तर–वृत्तियां तीनों गुणों के कारण सुख दुःख मोहस्वरूप होती हैं। दुःख की वृत्तियां तो स्वतः ही त्याज्य हैं। पर सुख की वृत्तियां भी सुखों के साधन-विषयों में राग उत्पन्न कराती हैं । और उन विषयों की प्राप्ति में विघ्न डालने वाले पर द्वेष उत्पन्न कराती हैं, इस कारण वे भी क्लेश देने वाली बन जाती हैं । राग और द्वेष क्लेश हैं । और मोह वृत्ति अविद्यारूप होने से शोक आदि सारे दुःखों का मूल है, इस लिये वह भी त्याज्य है । हां जब शुद्धसत्व के प्रभाव से राग द्वेष से शून्य वृत्तियें उत्पन्न होती हैं, तो वे त्याज्य नहीं, वह तो योग की अवस्था है, वहं ज्ञानी की अवस्था है। इसी अवस्था में महापुरुष जगत्

का कल्याण साधन करते हैं। पर हां इस अवस्था से भी ऊपर एक अवस्था है । जहां आत्मा सारी वृत्तियों के सम्बन्ध से अलग होकर अपने स्वरूप में अवस्थित होता है। वही अवस्था इस पहिली अवस्था को दृढ़ रखती है, जिस से आत्मा इस जगत् में विचरता हुआ भी पद्मपत्र की न्याईं निर्लेप रहता है। क्योंकि वह अपने स्वरूप से बाह्य जगत् की ओर और बाहिर से अपने स्वरूप की ओर स्वतन्त्रता से आ जा सकता है।

सं०—योग का लक्षण वृत्तियों का निरोध है। वृत्तियें तो जानलीं, अब उन के निरोध का उपाय बतलाते हैं—

## अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥१२॥

पदार्थ-( अभ्यास-वैराग्याभ्याम् ) अभ्यास और वैराग्य से ( तन्-निरोधः ) उन का रोकना।

अन्वयार्थ—अभ्यास और वैराग्य से उन का निरोध होता है।

भाष्य—चित्त नदी है। इस में वृत्तियों का प्रवाह बहता है। इस की दो धारा हैं । एक विषयों के मार्ग में बहती हुई संसार सागर में जा मिलती है। दूसरी विवेक के मार्ग में बहती हुई कल्याणसागर में जा मिलती है । पहिली धारा तो जन्म के साथ ही खुल जाती है, पर दूसरी धारा को शास्त्र और आचार्यों के उपदेश खोलते हैं। फिर जब विषयों के स्रोत पर वैराग्य का बन्ध लगाकर अभ्यास द्वारा सारे प्रवाह को विवेक के स्रोत में डाल दिया जाता है। तब वह प्रबल वेग से सारा प्रवाह कल्याण के सागर में जा पड़ता है और तनिक आगे बढ़ कर निरोध के सागर में लीन हो जाता है । इस प्रकार

यह अभ्यास और वैराग्य दोनों इकट्ठे मिलकर निरोध के साधन हैं । मन अत्यन्त चञ्चल है, पर यह दोनों मिल कर उस को साध लेते हैं । योग के उपदेश में अर्जुन के इस प्रश्न पर कि "मन का रोकना वायु की न्याईं अत्यन्त दुष्कर है" श्रीकृष्ण ने यही उत्तर दिया है :—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं परम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते ॥
असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

गी० ६ । ३५,३६

अर्थ--निःसन्देह, हे महाबाहो ! मन दुर्निग्रह है और चंचल है, पर अभ्यास और वैराग्य से हे कौन्तेय ! वश किया जाता है ॥ ३५ ॥ मैं जानता हूं कि जिस का मन संयम में नहीं है उस के लिये योग दुष्प्राप है, पर जिस का मन वश में है, वह यत्न करता हुआ उपाय से इस को पा लेता है ॥३६॥

सं०--अब क्रम से अभ्यास और वैराग्य का वर्णन करते हैं :—

## तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥१३॥

पदार्थ--( तत्र ) उन में से ( स्थितौ ) ठहरने में (यत्नः) प्रयत्न ( अभ्यासः ) अभ्यास ।

अन्वयार्थ--उन में से स्थिति के लिये प्रयत्न अभ्यास है ।

भाष्य--वृत्तिरहित चित्त की जो अपने स्वरूप में स्थिति

है, उसके सम्पादन करने के लिये श्रद्धा, वीर्य्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, ( १।२० ) और यम, नियम आदि अन्तरङ्ग बहिरङ्ग साधनों का अनुष्ठान अभ्यास है।

## सतु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

पदार्थ-(सः) वह ( तु ) पर (दीर्घ-काल-नैरन्तर्य-सत्काराऽऽसेवितः) दीर्घकाल लगातार और सत्कार से ठीक २ (वा बार बार) सेवन किया हुआ (दृढ़भूमिः) दृढ़ अवस्था वाला।

अन्वयार्थ-पर वह (अभ्यास) दीर्घकाल, लगातार, और सत्कार से सेवन किया हुआ दृढ़भूमि होता है।

भाष्य-व्युत्थान के संस्कार मनुष्य को बहिर्मुख करते हैं और अभ्यास अन्तर्मुख करता है। पर अभ्यास पक्का तब होता है जब दीर्घकाल तक सेवन किया जाए, नहीं तो किया हुआ अभ्यास भी कुछ काल में लीन हो जाता है। और तिस पर भी, बीच २ में तोड़ न दिया जाए। तोड़ने से विक्षेप बने रहते हैं। और जब तक अभ्यास सत्कार ( अर्थात् तप, ब्रह्मचर्य्य, विद्या और श्रद्धा ) के साथ सेवन नहीं होता, तब तक फीका रहता है। जब यह तीनों बातें मिलती हैं, तब अभ्यास दृढ़-भूमि होता है। फिर उस को व्युत्थान के संस्कार झट पट नहीं दबा सकते॥

सं०—अभ्यास का वर्णन करके अब वैराग्य का वर्णन करते है :-

## दृष्टानुश्राविक विषय वितृष्णस्य वशीकार-संज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

पदार्थ-(दृष्टा-ऽऽनुश्रविक-विषय-वितृष्णस्य ) दृष्ट और आनु श्रविक विषयों में जिस को कोई तृष्णा नहीं है उस का ( वशीकार संज्ञा, वैराग्यम् ) वशीकार नामी वैराग्य है ।

अन्वयार्थ-दृष्ट और आनुश्रविक विषयों में जो वितृष्ण है उस का ( वैराग्य ) वशीकार नामी वैराग्य है ॥

भाष्य-विषय दो प्रकार के हैं दृष्ट और आनुश्रविक। दृष्ट वे हैं, जो इसी लोक में, सब के लिये हैं जैसे रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, स्त्री, अन्न, पान ऐश्वर्य इत्यादि। आनुश्रविक वे हैं, जिन को शास्त्र से जानते हैं। वे भी दो प्रकार के हैं शरीरान्तरवेद्य और अवस्थान्तरवेद्य। शरीरान्तरवेद्य=स्वर्ग, वैदेह्य प्रकृतिलयत्व (१।१६) आदि हैं। और अवस्थान्तरवेद्य दिव्य गन्ध रसादि (१।३५) वा सिद्धियां (तृतीय पाद में) हैं। इन दोनों प्रकार के दिव्य, अदिव्य, विषयों की उपस्थिति में भी जब चित्त ज्ञान के बल से इनके दोष (२।१५) देखता हुआ सङ्गदोष से रहित रहता है न इनको ग्रहण करता है न परे हटाता है। क्योंकि ग्रहण कराने वाला राग उस में नहीं और परे हटाने वाला द्वेष उस में नहीं। किन्तु।

**विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि, त एव धीराः ।**

विकार का हेतु विद्यमान होने पर भी जिन के चित्त

नहीं बदलते वे ही धीर हैं। इस प्रकार उसका चित्त एक रस बना रहता है। चित्त की ऐसी अवस्था ही वशीकार संज्ञा वैराग्य है। यह अपरवैराग्य है, परवैराग्य अगले सूत्र में कहेंगे।

राग का न होना मात्र वैराग्य नहीं। क्योंकि रोगादि के कारण भी विषयों में अरुचि हो जाती है, पर वह वैराग्य नहीं, और न उस से योग सिद्ध होता है। और विषयों की अप्राप्तिमात्र भी वैराग्य नहीं। किन्तु विषयों में दोष देखने से जो राग का घटना और बिलकुल हटना है वही वैराग्य है।

वैराग्य की चार संज्ञा हैं (१) यतमान-संज्ञा (२) व्यतिरेक संज्ञा (३) एकेन्द्रिय संज्ञा, और (४) वशीकार संज्ञा (१) राग द्वेष आदि दोष इन्द्रियों को अपने २ विषयों में प्रवृत्त करते हैं, सो इन्द्रियों को उन २ विषयों में प्रवृत्त न कर सकें इस के लिये प्रयत्न करना अर्थात् वैराग्य के साधनों का अनुष्ठान करना यतमान संज्ञा वैराग्य है (२) फिर, ये २ इन्द्रिय तो जीत लिये हैं और ये अभी जीतने शेष हैं इस प्रकार अलग २ करना व्यतिरेक संज्ञा वैराग्य है (३) जब रागादि दोष बाह्य इन्द्रियों को प्रवृत्त करने में तो असमर्थ हो गए हैं, पर मन में सूक्ष्म रूप से टिके हैं जिस से फिर विषयों की सन्निधि से चित्त क्षोभ हो जाता है, जैसा कि सौभरिमुनि का हुआ, यह एकेन्द्रियसंज्ञा वैराग्य है (४) राग की सूक्ष्म रूप से भी निवृत्ति हो जानी, दिव्य अदिव्य विषयों के उपस्थित होने पर भी उपेक्षा बुद्धि रहनी, यह तीनों संज्ञाओं से परे वशीकार संज्ञा वैराग्य है।

पहिली तीन अवस्थाओं का वैराग्य निरोध का हेतु

नहीं । किन्तु निरोध का हेतु यह चतुर्थभूमि का ही वैराग्य है । इस लिये उसी का निरोध के साधनों में वर्णन किया है । पर यह अवस्था पहिली अवस्थाओं को लांघ कर ही प्राप्त होती है ।

सं०-अपरवैराग्य को कह कर परवैराग्य कहते हैं-

## तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१६॥

पदार्थ-(तत्) वह=वैराग्य (परम्) पर, सब से ऊंचा (पुरुषख्यातेः) पुरुष के साक्षात्कार से (गुणं-वैतृष्ण्यम्) गुणों में तृष्णा रहित होना ।

अन्ववार्थ—पुरुष के साक्षात्कार से (सकल) गुणों में तृष्णा रहित होना पर वैराग्य है ।

भाष्य-अपर वैराग्य दिव्यादिव्य विषयों में वैराग्य है । पर वैराग्य जहां तक गुणों का अधिकार है, उन सब में वैराग्य है । पहिले तो पुरुष दृष्टानुश्रविक विषयों में दोष देखकर उन से विरक्त होता है, तब उन का चित्त विषयों में भटकता नहीं, किन्तु एकाग्र हो जाता है, यही **सम्प्रज्ञातसमाधि** है। वह इस अवस्था में चित्त और आत्मा के भेद को साक्षात् करता है, यही **सत्वपुरुषान्यताख्याति** है, इस ख्याति में पुरुष का ज्यों२ अभ्यास बढ़ता है, त्यों २ आत्मा की शुद्धि उत्तमोत्तम प्रतीत होती है,वह इस में तृप्त हुआ सारे गुणों से विरक्त होता है । वह एक बार इस विवेक ख्याति को भी (जो गुणों की एक अवस्था है) परे हटाकर अपने स्वरूप में स्थिति चाहता है । यही **धर्ममेघसमाधि** (४ । २९ और ४ । ३१ में) है, यही **परवैराग्य** है । इस के उदय होने पर पुरुष समझता है, कि मैं

ने जो पाना था, पा लिया है। जो क्लेश काटने थे, काट दिये हैं। अब संसार का वह संक्रम (सिलसिला) टूट गया है, जिस के टूटे बिना मनुष्य जन्म कर मरता है और मर कर जन्मता है। यह ज्ञान की पराकाष्ठा ही पर वैराग्य है। इसी का ही अवश्यम्भावि फल कैवल्य (मुक्ति) है।

योग, चित्त की वृत्तियों का निरोध है, यह कह कर पहले वृत्तियों का निरूपण किया, फिर उन के रोकने के उपाय बतलाए। उपायों में जो वैराग्य है, उस के दो भेद कहे हैं, अपर और पर। यह दोनों प्रकार का वैराग्य एक साथ ही नहीं हो जाता, किन्तु पहले अपरवैराग्य होता है, फिर परवैराग्य होता है। वैराग्य के दो प्रकार के होने के कारण से उस का फल जो योग है, वह भी दो प्रकार का होता है। सम्प्रज्ञात असम्प्रज्ञात। जब अपरवैराग्य होता है, तो राजस और तामस वृत्तियें रुक जाती हैं, पर सात्विक वृत्ति बनी रहती है। और वह जहां टिकती है, वहीं एकाग्र होकर उसका साक्षात् कराती है। यही सम्प्रज्ञात योग है। फिर जब इस योग के पीछे पर-वैराग्य होता है, तो सारी वृत्तियें रुक जाती हैं, यही असम्प्र-ज्ञात योग है। इन दोनों में से सम्प्रज्ञात पहले सिद्ध होता है, क्योंकि वह अपर वैराग्य का फल है, इस लिये पहले सम्प्र-ज्ञात का स्वरूप और उस के भेद बतलाते हैं:—

**वितर्कविचाराऽनन्दाऽस्मिताऽनुगमात्**
**सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥**

श०—( वितर्क-विचारा-ऽऽनन्दा-ऽस्मिता-ऽनुगमात्* ) वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के सम्बन्ध से ( सम्प्रज्ञातः ) सम्प्रज्ञात ।

अन्वयार्थ-वितर्क, विचार, आनन्द, और अस्मिता के अनुगम ( सम्बन्ध ) से सम्प्रज्ञात होता है ।

भाष्य-जिस प्रकार निशाना लगाने वाला पहले स्थूल लक्ष्य में लगाता है फिर सूक्ष्म में। इसी प्रकार योगी भी पहले स्थूल वस्तु का साक्षात् करता है फिर सूक्ष्म का ।

वितर्कानुगत-जब साधक किसी स्थूल विषय-विराट , महाभूत, देह वा इन्द्रियों पर चित्त को ठहराता है, तो उस के वे सारे विशेष जो पहले कभी न देखे न सुने न अनुमान किये थे, अब उन सब को साक्षात् कर लेता है, यही वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात योग है ।

इसके सवितर्क और निर्वितर्क ये दो भेद आगे कहेंगे।

विचारानुगत-जब चित्त इस प्रकार वस्तु के स्थूल आकार को साक्षात् कर लेता है, तब वस्तु के स्थूल आकार से उस की दृष्टि आगे बढ़ती है और वह पञ्चतन्मात्राओं के स्वरूप को

---

* यहां विज्ञानभिक्षु की टीका को छोड़ कर सर्वत्र 'रूपानुगमात्' पाठ मिलता है । पर भाष्य में " वितर्क विकलः सविचारः " इत्यादि पाठ देखने से और आद्य सूत्र के भाष्य में भी " वितर्कानुगतो विचारानुगतः " इत्यादि ही प्रयोग होने से प्रतीत होता है कि रूप शब्द पीछे डाला गया है और इस पद के न होने में सूत्र में कोई त्रुटि नहीं आती ।

साक्षात् करता है। यहां भी वह इनके सारे विशेषों को प्रत्यक्ष देखता है। इस को देख कर फिर आगे बढ़ता है और तन्मात्राओं के कारण अहङ्कार का साक्षात् करता है इसी प्रकार क्रम से महत्तत्व और प्रकृति को साक्षात् करता है। यह **विचारानुगत सम्प्रज्ञात** योग है। इसके **सविचार** और **निर्विचार** दो भेद आगे कहेंगे।

* **आनन्दानुगत**—इन्द्रिय जो अस्मिता की अपेक्षा से स्थूल हैं उन में चित्त को धारण करके उन के सारे विशेषों को साक्षात् करना **आनन्दानुगत** सम्प्रज्ञात है।

---

* आगे १। ४१ में कहेंगे, कि सम्प्रज्ञात योग में योगी स्थूल भूतों से लेकर प्रकृति पर्यन्त सब स्थूल सूक्ष्म विषय (=ग्राह्य) को साक्षात् करता है। ज्ञान के साधनों (इन्द्रियों) को साक्षात् करता है और फिर ज्ञाता (=अस्मिता) को साक्षात् करता है। उसके अनुसार ही यहां भी पहले सवितर्क में स्थूल विषय और फिर सविचार में सूक्ष्म विषयों को प्रकृति तक साक्षात् कर लेता है, यह दर्शाया है। इस प्रकार बाह्य जगत् को प्रकृति पर्यन्त साक्षात् करके फिर आभ्यन्तर जगत् को साक्षात् करने में पहले सानन्द में इन्द्रियों को साक्षात् करता है, यह अर्थ वाचस्पति आदि के अनुसार है। आनन्द शब्द यहां इन्द्रियों के लिये है, इस में यह युक्ति दी गई है, कि इन्द्रिय प्रकाशशील हैं, वह सात्विक (सत्वगुण प्रधान) अहङ्कार से उत्पन्न हुए हैं और सत्व सुख है इस लिये इन्द्रिय भी सुखरूप हैं। पर आनन्द शब्द अन्यत्र कहीं इन्द्रियों के लिये प्रयुक्त हुआ है, इस में कोई प्रमाण नहीं। इस लिये विज्ञानभिक्षु ने यहां सानन्द से दूसरा ही अभिप्राय लिया है, वह यह है—

अस्मितानुगत–इन्द्रियों से सूक्ष्म जो अस्मिता है, उस में चित्त को धारण करके उस के स्वरूप को साक्षात् करना अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग है। अस्मिता, बुद्धि और पुरुष का वह मेल, जिस में वे एक रूप से ही प्रतीत होते हैं, इसी को जड़ चेतन की ग्रन्थि ( गांठ ) कहते हैं । यही अहङ्कार है, यही इन्द्रियों का कारण है ।

---

आनन्दानुगत—इस सूक्ष्मता के तारतम्य को साक्षात् करते हुए योगी का चित्त सत्वगुण के उद्रेक ( बढ़ने ) से आनन्द से भर जाता है उस समय प्रकृति का विचार भी उस का विषय नहीं रहता, किन्तु आनन्द ही आनन्द उस का विषय रह जाता है और मैं सुखी हूं यही अनुभव होता है यही आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात है, जैसा कि गीता में है ।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्य मतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।६।२१-२३॥

जिस अवस्था में योगी उस परम सुख को जानता है जो बुद्धि से ही ग्रहण किया जाता है न कि इन्द्रियों से । और न ही यह उस में स्थित हुआ तत्व से फिसलता है । २१ । जिस को पाकर किसी दूसरे लाभ को उस से अधिक नहीं समझता और जिस में स्थित हुआ भारी दुःख से भी नहीं हिलाया जाता । २२ । उस दुःखों के मेल से अलग अवस्था को योग नाम वाला जाने ।

सं०-अब असम्प्रज्ञात योग का स्वरूप और उसका उपाय बतलाते हैं---

**विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कार शेषोऽन्यः ।१८।**

श०-( विराम-प्रत्यया-ऽभ्यास-पूर्वः ) विराम प्रतीति का अभ्यास है पूर्व जिस के ( संस्कार-शेषः ) संस्कार जिस में शेष हैं ( अन्यः ) दूसरा अर्थात् असम्प्रज्ञात ।

---

अस्मितानुगत-इस आनन्द की धारा में जो आत्मा के अपने स्वरूप का प्रकाश है अर्थात् 'मैं सुखी हूं' के अन्दर 'मैं हूं' जो ज्ञान है अब वह स्वतन्त्र प्रकाश पाता है। सुखी हूं दुःखी हूं यह सब भूल जाता है अब केवल 'अस्मि अस्मि' 'मैं हूं मैं हूं' यह ज्ञान शेष रहता है। इसी का नाम अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात योग है (विज्ञानभिक्षु)।

विज्ञानभिक्षु ने वाचस्पति के विरुद्ध यह युक्ति भी दी है, कि जब चित्त एक स्थूल विषय में एकाग्र हो जाता है, तो वह वहां से हटाकर दूसरी जगह नहीं लगाया जाता, किन्तु वहीं वह पहले स्थूल को देखता है, ज्यों २ उस की एकाग्रता बढ़ती है, त्यों २ उस के सूक्ष्म अवयव उस को अलग २ भासने लगते हैं। इस लिये जब चित्त को एक स्थूल वस्तु में लगाया है, तो पहले वह वहां एकाग्र हो कर उस के स्थूल स्वरूप को साक्षात् कराता है, फिर जब उस की एकाग्रता और बढ़ती है, तो वह स्थूल वस्तु जिन सूक्ष्म अवयवों से बनी है, वह अवयव उस को अलग २ भासने लगते हैं, और अधिक एकाग्रता के बढ़ने से उन अवयवों के अवयव, फिर उन के भी अवयव, इसी प्रकार प्रकृति पर्यन्त उस को वहीं साक्षात् हो जाता है। यह नहीं होता कि पहले चित्त को स्थूल में ठहरा कर उस का स्वरूप जान लिया, तो

अन्वयार्थ---विराम प्रतीति का अभ्यास जिस का कारण है और संस्कार जिस में शेष हैं ( वह ) दूसरा योग है *।

भाष्य---सम्प्रज्ञात योग में योगी चित्त की एकाग्रवृत्ति द्वारा स्थूल भूतों से लेकर प्रकृति पर्य्यन्त सूक्ष्म तत्वों का साक्षात् करके फिर चित्त की एकाग्रवृत्ति से ही अपने स्वरूप के दर्शन करता है । परन्तु चित्त के द्वारा अपने स्वरूप का दर्शन एक छाया मात्र है, इस लिये अब आत्मा को इस वृत्ति के भी बन्द करने की इच्छा होती है, क्योंकि जब तक यह वृत्ति उस के सामने है तब तक दृश्य उस के सामने है दृश्य के सम्मुख होते हुए द्रष्टा उसी को देखता है, उसी में रहता है, अपने स्वरूप में स्थित नहीं हो सकता। इसलिये वह चाहता है कि यह वृत्ति भी बन्द हो जाए, जिस से मैं दृश्य की ओर से हट कर अपने स्वरूप में स्थित हो जाऊं । इसी प्रतीति का नाम विराम प्रतीति है, यही परवैराग्य ( १ । १६ ) है। इस

---

फिर वहां से हटा कर किसी सूक्ष्म वस्तु में लगाया । किन्तु हर एक स्थूल सूक्ष्म में है, इस लिये पहले स्थूल को साक्षात् करके फिर आप ही सूक्ष्म में पवेश कर जाता है और बढ़ते २ पकृतिपर्यन्त पहुंच जाता है, इसी पूकार फिर वहां से हटा कर इन्द्रियों में नहीं लाया जाता, किन्तु पूकृतिपर्यन्त साक्षात् कर लेने से जो आनन्द पूादुर्भूत होता है, फिर वह उस को साक्षात् करते २ उसी मस्ती में उस को भी छोड़ कर अपने स्वरूप की झलक देखता है, जो अस्मिता है ।

* विराम=वृत्तियों का अभाव, पृत्यय=कारण । वृत्तियों के अभाव का कारण जो परवैराग्य है, उस के अभ्यास अर्थात् बार २ अनुष्ठान से असम्पज्ञात योग होता है । ( वाचस्पति )

प्रतीति का बार २ अभ्यास करने से एकाग्रवृत्ति भी बन्द हो जाती है। अब चित्त में कोई वृत्ति शेष नहीं। केवल संस्कार शेष हैं। इस अवस्था का नाम असम्प्रज्ञात योग है। यही निर्बीज समाधि है। इस समाधि में आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है और अपने आप में स्थिति हो जाने से अब अपने अन्दर जो अन्तर्यामी, अन्तरात्मा, परमआत्मा है उसको देखता है।

अपरवैराग्य सम्प्रज्ञातयोग का साधन है। सम्प्रज्ञातयोग परवैराग्य का, और परवैराग्य असम्प्रज्ञात का साधन है। सम्प्रज्ञात असम्प्रज्ञात का साक्षात् साधन नहीं हो सकता। क्योंकि सम्प्रज्ञात में चित्त पुरुषपर्यन्त किसी आलम्बन (आश्रय) में एकाग्र होता है और असम्प्रज्ञात निरालम्बन है। सालम्बन निरालम्बन का क्योंकर कारण हो, क्योंकि कारण के सरूप ही कार्य होता है विरूप नहीं, इसलिये निरालम्बन-ज्ञानप्रसाद मात्र-परवैराग्य से ही असम्प्रज्ञात की उत्पत्ति होती है।

सं०---योग के जिज्ञासु दोनों होते हैं, एक वे, जो पूर्व जन्म से योग करते आए हैं और दूसरे वे जिन्हों ने इसी जन्म में आरम्भ किया है। इन में से :--

## भवप्रत्ययोविदेहप्रकृतिलयानाम् ॥१९॥

शब्दार्थ---(भव-प्रत्ययः) जन्म से ही प्रतीति (विदेह-प्रकृति-लयानाम्) विदेह और प्रकृति लयों को।

अन्वयार्थ---विदेह और प्रकृति लयों को जन्म से ही प्रतीति होती है।

भाष्य---जिन योगियों ने योग का अभ्यास आरम्भ तो

किया है पर आत्मा को साक्षात् करने से पहले ही उन का देहपात हो गया है । वे योगभ्रष्ट कहलाते हैं । योगभ्रष्ट दो प्रकार के हैं (१) विदेह और (२) प्रकृतिलय । विदेह वे हैं जो वितर्क समाधि द्वारा स्थूल तत्वों के सारे विशेषों को साक्षात् कर चुके हैं और इसी लिये वे देह के तत्व को जान कर इस में आत्माभिमान तोड़ चुके हैं इसी लिये वे विदेह हैं । प्रकृतिलय वे हैं जो विचार समाधि द्वारा आठ प्रकृतियों को साक्षात् कर चुके हैं । पञ्चतन्मात्र, अहङ्कार, महत्तत्व, और प्रकृति ये आठ प्रकृतियें हैं । इनका चित्त प्रकृति में लीन रहा है इसलिये प्रकृतिलय कहलाते हैं । इन दोनों प्रकार के योगियों ने अभी आत्मा को नहीं साक्षात् किया । आत्मा का दर्शन अभी आगे होना था कि वे योगभ्रष्ट हो गये । पर याद रक्खो उनकी कुछ हानि नहीं हुई । अब जन्म से ही उन का चित्त योग की ओर झुक जाएगा उन के साधन हो चुके हैं, वे आसानी से योगभूमि में प्रविष्ट होंगे ।

विदेह और प्रकृतिलय तो दूर हैं जो श्रद्धायुक्त हो कर योगपथ में थोड़ा भी चले हैं उन का भी इस जन्म में अवश्यंभावि कल्याण है गीता ( अध्याय ६ ) श्रीकृष्ण से अर्जुन पूछते हैं :—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ३७
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टः छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ।३८।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता नह्युपपद्यते ।३९।

हे कृष्ण ! वह पुरुष जो श्रद्धा से पूर्ण है, पर अपने आप को वश में न रखने के कारण उस का चित्त योग से फिसल गया है, वह अब योग सिद्धि को न पाकर किस गति को प्राप्त होता है ।३७। क्या वह उभयभ्रष्ट हो कर कटे हुए मेघ की नाईं नष्ट तो नहीं हो जाता, क्योंकि हे महाबाहो! उसने अपने स्वरूप में स्थिति नहीं पाई और ब्रह्म के मार्ग में अनजान रहा है ।३८। हे कृष्ण ! मेरे इस संशय को पूरे तौर पर मिटा दो। तेरे बिना इस संशय का मिटाने वाला कोई नहीं है ।

इस पर श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं :—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ४०
प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टो हि जायते । ४१
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।४२।
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।४३।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते। ४४।
प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम्। ४५।

हे अर्जुन! उस का न इस लोक में, न परलोक में, कोई विनाश है। हे तात! कोई भी कल्याण करने वाला दुर्गति को नहीं पाता। ४०। योगभ्रष्ट पुण्यात्माओं के लोकों को प्राप्त हो कर वहां बहुत वर्ष निवास करके फिर उन के घर में जन्म लेता है जो शुचि और श्रीमान् हैं। ४१। अथवा बुद्धिमान् योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। लोक में इस प्रकार का जो जन्म है यह बड़ा दुर्लभ है। ४२। वहां उसे वही पूर्व जन्म की बुद्धि मिल जाती है। और हे कुरुनन्दन! (अर्जुन) वह फिर सिद्धि के लिये यत्न करता है। ४३। वह उसी पहले अभ्यास से बेबस खींचा जाता है। योग का जिज्ञासु भी शब्द-ब्रह्म से आगे निकल जाता है। ४४। योगी लगातार प्रयत्न करता हुआ धीरे २ सारे पापों को धोकर अनेक जन्मों की सिद्धि (सफलता) के अनन्तर परमगति को पाजाता है। ४५।

## श्रद्धा वीर्य स्मृतिसमाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ--(श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि--प्रज्ञा-पूर्वकः) श्रद्धा वीर्य, स्मृति, समाधि, और प्रज्ञा (यह सिलसिला) जिस का कारण है। (इतरेषाम्) दूसरों को।

अन्वयार्थ--श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, और प्रज्ञापूर्वक दूसरों का ( योग सिद्ध ) होता है।

भाष्य---जो विदेह और प्रकृतिलयों से भिन्न हैं उन को जन्ममात्र से नैसर्गिक रुचि योग में नहीं होती किन्तु उन को पहले शास्त्र और आचार्य के उपदेश सुन कर और अनुमान से उस का निश्चय करके, योग के विषय में श्रद्धा उत्पन्न होती है। उन का विश्वास होता है कि आत्मा और परमात्मा 'है' और उन की प्राप्ति का उपाय योग है, इसलिये योग के साधन में उन को रुचि उत्पन्न होती है। यही श्रद्धा है। यह कल्याण करने वाली श्रद्धा योगी को माता की नाईं कुमार्ग से पूरा २ बचाती है। श्रद्धा से वीर्य=उत्साह बढ़ता है। धर्म के सारे कार्यों में श्रद्धा एक बड़ा भारी अङ्ग है। जब श्रद्धा उत्पन्न होती है, तो उस काम के करने में ऐसा उत्साह होता है कि वह कार्य चाहे कठिन भी हो, आसानी के साथ पूरा हो जाता है। उत्साह से ध्यान स्थिर होता है, ध्यान से समाधि होती है और समाधि से प्रज्ञा का विवेक बढ़ता है जिस से वस्तु को यथावत् जानता है। इस के अभ्यास से परवैराग्य और परवैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि होती है।

सं०---श्रद्धा आदि योग के उपाय हैं तो इनका अनुष्ठान करने वालों को, सब को, एक जैसी समाधि होनी चाहिये। पर किसी को योग की सिद्धि होती है, किसी को होती ही नहीं। और किसी को देर से और किसी को अत्यन्त देर से और किसी को बहुत ही जल्दी सिद्धि होती है यह भेद क्यों ? इस का उत्तर अगले दो सूत्रों में देते हैं:--

## तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ---( तीव्र-संवेगानाम् ) तीव्र वैराग्य वालों को ( आसन्नः ) निकट ।

अन्वयार्थ---तीव्रवैराग्य वालों को ( समाधि और उस का फल ) निकट होता है ।

## मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपिविशेषः ।२२।

शब्दार्थ---( मृदु-मध्या-ऽधिमात्रत्वात् ) मृदु=नर्म, मध्य और अधिमात्र=तेज़ होने से (ततः, अपि) उस से भी=निकट से भी ( विशेषः ) विशेष=निकटतर, निकटतम ।

अन्वयार्थ---मृदु, मध्य, और अधिमात्र से उस से भी विशेष होता है (=तीव्र वैराग्य भी मृदु मध्य और अधिमात्र तीन भेद का होता है, उसके हेतु से समाधि भी निकट, निकटतर और निकटतम हो जाती है ) ।

भाष्य---श्रद्धा आदि उपाय भी किसी के मृदु किसी के मध्य और किसी के तीव्र होते हैं। और वैराग्य भी इसी प्रकार मृदु मध्य और तीव्र होता है । इन में से जिस के अधिमात्र उपाय और तीव्र वैराग्य है उसके लिये समाधि निकट है जिस के उपाय ढीले हैं वा वैराग्य ढीला है उस के लिये दूर है। तीव्र वैराग्य में भी मृदु मध्य और अधिमात्र ये तीन और भेद हैं । इस लिये जिस के अधिमात्र उपाय और मृदु तीव्र वैराग्य हैं उस के लिये समाधि निकट है और जिस के अधिमात्र उपाय और मध्य तीव्रवैराग्य है, उसके निकटतर है और जिस के अधिमात्र उपाय और अधिमात्र तीव्रवैराग्य है उसके निक-

ट्तम है। इसी प्रकार और भेद भी उपाय और वैराग्य के भेद से होते हैं।

सं०-- क्या इसी से निकटतम समाधि होती है। या इस की प्राप्ति में कोई और भी उपाय है। उत्तर यह है—

## ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—( ईश्वर-प्रणिधानात् ) ईश्वर के प्रणिधान से (वा) अथवा (विशेष होता है=निकटतम समाधि होती है)।

अन्वयार्थ—अथवा ईश्वर के प्रणिधान से (निकटतम समाधि होती है)।

भाष्य —जब पुरुष अनन्यचित्त हो कर ईश्वर की भक्ति में तत्पर होता है। तब ईश्वर उस को स्वीकार ( कबूल ) करते हैं। वह अपने भक्त पर अपनी अनुग्रह दृष्टि डालते हैं। इस दृष्टि के पड़ते ही वह समाधि जिस की योगी को चाह है, सिद्ध हो जाती है। यहां ईश्वरप्रणिधान से ईश्वर की उपासना से अभिप्राय है, जो आगे २८ सूत्र में कहेंगे। दूसरे पाद के आदि में जो ईश्वर प्रणिधान कहा है, उस का अभिप्राय वहां कहेंगे।

सं०—ईश्वर के स्वरूप का निरूपण करते हैं :—

## क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—( क्लेश-कर्म-विपाका-ऽऽशयैः ) क्लेश, कर्म, ( उन के ) फल और वासनाओं से ( अ-परामृष्टः ) न स्पर्श किया हुआ ( पुरुष-विशेषः ) पुरुष विशेष (ईश्वरः) ईश्वर।

अन्वयार्थ— क्लेश, कर्म, ( कर्मों के ) फल और वासनाओं से जो छुआ नहीं गया, वह पुरुषविशेष ईश्वर है ।

भाष्य--जीवात्मा पुरुष है और परमात्मा भी पुरुष है। भेद यह है, अविद्यादि क्लेश ( २।३ ) शुभ, अशुभ कर्म, कर्मों का फल और फल भोगने की वासनाएं, ये जीवात्मा के साथ सम्बन्ध रखती हैं, परमात्मा इनके सम्बन्ध से परे है । यद्यपि मुक्ति अवस्था में संसारी पुरुषों को भी इनका सम्बन्ध नहीं रहता । पर परमात्मा में तो तीनों कालों में इनका स्पर्श नहीं है । यही दूसरे पुरुषों से इस में विशेषता है । वह सदा ही ईश्वर है और सदा ही मुक्त है ।

उस के ऐश्वर्य्य से न किसी का बढ़ कर ऐश्वर्य है, न उस के बराबर है । यदि इस से बढ़कर ऐश्वर्य हो, तो वही ईश्वर हो, इस लिये जहां ऐश्वर्य की पराकाष्ठा (आखिरी हद्द ) है, वही ईश्वर है ।

( प्रश्न ) बराबर २ के बहुत से ईश्वर मानने में क्या दोष है ?

( उत्तर ) एक ही वस्तु के विषय में एक की इच्छा हुई, कि यह वस्तु जल्दी नष्ट हो जाए, और दूसरे की इच्छा हुई कि यह चिरस्थायि हो, तो उन में से एक का अभिप्राय पूरा होने पर दूसरे में न्यूनता आएगी । अब जिस में न्यूनता हुई, वह ईश्वर नहीं ठहरेगा ।

( प्रश्न ) दोनों का अभिप्राय पूरा न हो, वा दोनों का ही पूरा हो जाए, तो किसी में न्यूनता न होगी ।

(उत्तर) दोनों का अभिप्राय पूरा न हो, तो बेशक दोनों

में बराबरी तो बनी है, पर ईश्वर दोनों ही नहीं हैं। ईश्वर वह है, जिस के अभिप्राय के पूरा होने में कोई रुकावट नहीं होती। और दोनों का परस्पर विरुद्ध अभिप्राय तो पूरा हो ही नहीं सकता।

(प्रश्न) वे सर्वज्ञ हैं, उन का अभिप्राय एक दूसरे के विरुद्ध नहीं होता। जो एक की इच्छा है, वही दूसरे की होती है, इस लिये सब की इच्छा पूरी होती है।

(उत्तर) जब एक की इच्छा है और वह पूरो होने वाली है, तो उसी इच्छा से सारा काम चल सकता है, दूसरी व्यर्थ इच्छा साथ लगाने की कोई आवश्यकता नहीं।

(प्रश्न) अन्तरङ्ग सभा की न्याइं वे सब मिलकर ही काम करते हैं, अकेला कोई नहीं काम करता, इस तरह बहुत मानने में दोष नहीं आएगा।

(उत्तर) तब अन्तरङ्ग सभा की न्याइं उन में से कोई भी ईश्वर नहीं, क्योंकि उन में कोई भो स्वतन्त्र नहीं।

(प्रश्न) अच्छा, वे बारी २ से जगत् पर शासन करते हैं, और अपने राज्यकाल में उन की स्वतन्त्रता होती हैं।

(उत्तर) दूसरे के राज्यकाल में तो उन की स्वतन्त्रता छिन जाती है। तब वे नित्येश्वर नहीं हुए। और जिस की ईशना अनित्य है वह ईश्वर नहीं। और ये सारी कल्पनाएं गौरव वाली भी हैं। इस लिये जिस के ऐश्वर्य से न किसी का बढ़ कर ऐश्वर्य है, और न बराबर ऐश्वर्य है, वही ईश्वर है। और वह एक ही है।

सं०—इस प्रकार ईश्वर का स्वरूप कह कर प्रमाण कहते हैं—

## तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—( तत्र ) उस में ( निरतिशयम् ) अतिशय=बढ़ती, रहित ( सर्वज्ञ-बीजम् ) सर्वज्ञता का बीज।

अन्वयार्थ–सर्वज्ञता का बीज उस में निरतिशय है।

भाष्य—जिस से कोई बढ़ कर वस्तु हो, वह सातिशय होती है। जैसे पर्वत बड़ा है, पर उस से पृथिवी बड़ी है, इस लिये पर्वत का परिमाण सातिशय है। पृथिवी से भी सूर्य बड़ा है इस लिये पृथिवी का परिमाण भी सातिशय है। जो सातिशय वस्तु है, उस पर उसी जाति की निरतिशय ( जिस से बढ़ कर कोई न हो ) वस्तु भी होती है। जैसे पर्वत आदि का बड़ा होना सातिशय है। सो इन पर निरतिशय बड़ा भी है और वह आकाश है। इसी प्रकार, मनुष्य में जो सर्वज्ञता का बीज है अर्थात् मनुष्य केवल इन्द्रियों के विषयों को ही नहीं जानता, किन्तु थोड़ा बहुत अतीन्द्रिय पदार्थों को भी जानता है, यही सर्वज्ञता का बीज है। यह ज्ञान किसी में थोड़ा है किसी में बहुत है और किसी में उस से भी अधिक है, इस लिये यह सातिशय है। इस ज्ञान की भी कहीं सीमा होनी चाहिये। सो जहां इस की सीमा है अर्थात् पूर्ण सर्वज्ञता है वही परमात्मा है। यह सर्वज्ञता का बीज जो मनुष्य में सातिशय है, परमात्मा में जाकर निरतिशय होता है॥

सं०—सो यह—

## पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् २६।

शब्दार्थ--( पूर्वेषाम् ) पहलों का ( अपि ) भी (गुरुः) गुरु है ( कालेन ) काल से ( अनवच्छेदात् ) अवच्छेद ( हद्द ) न होने से ॥

अन्वयार्थ—पहलों का भी गुरु है, क्योंकि काल से उस का अवच्छेद ( हद्द ) नहीं है।

भाष्य--काल सब को अपनी हद्द में रखता है। जो सर्ग के आदि में गुरु हुए हैं, वे भी उस समय से पहले नहीं थे, इस लिये वे काल की हद्द में हैं । काल की यह हद्द परमात्मा के लिये नहीं है। इस लिये वह इन आदि गुरुओं का भी गुरु है। जैसे वह इस सर्ग के आदि में है, इसी प्रकार अतीत सर्गों के आदि में भी वही गुरुओं का गुरु जानना चाहिये।

सं०—ईश्वर का प्रणिधान किस प्रकार करना चाहिये, इस के दिखलाने के लिये पहले उस का नाम बतलाते हैं-

## तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—( तस्य ) उसका ( वाचकः ) वाचक=नाम ( प्रणवः ) ओम्।

अन्वयार्थ—उस का वाचक ओम् है।

भाष्य—ओम्, यह परमात्मा का नाम है। व्यास भाष्य में लिखा है, कि इस नाम के साथ परमात्मा का नित्य सम्बन्ध है अर्थात् सर्ग सर्गान्तरों में यही नाम उसका स्थिर रहता है।

सं०—अब प्रणिधान ( उपासना ) बतलाते हैं—

## तज्जपस्तदर्थ भावनम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—(तज्-जपः) उस का जप ( तद्-ऽर्थ-भावनम् ) उस के अर्थ का चिन्तन करना ।

अन्वयार्थ—उस ( ओम् ) का जप और उस के अर्थ का चिन्तन करना ( प्रणिधान है ) ।

भाष्य—जब योगी ओम् का जप और उसके अर्थ अर्थात् परमात्मा का चिन्तन ( ध्यान ) करता है, तो उस का चित्त एकाग्र हो जाता है ।

## स्वाध्यायाद् योग मासीत योगात् स्वाध्याय मामनेत् । स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशेत ॥

स्वाध्याय के पीछे योग (उस के अर्थ के ध्यान) में बैठै और योग के पीछे स्वाध्याय का अभ्यास करे । स्वाध्याय और योग की सिद्धि से परमात्मा प्रकाशित होते हैं। इसलिये योग के आदि और अन्त में ओम् का जप करना चाहिये ॥

सं०—उपासना का फल कहते हैं—

## ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—( ततः ) उस से ( प्रत्यक्-चेतना-ऽधिगमः ) प्रत्यक् चेतन=जीवात्मा, की प्राप्ति ( अपि ) भी ( अन्तराया-ऽभावः ) विघ्नों का अभाव ( च ) और ।

अन्वयार्थ—उस से जीवात्मा की प्राप्ति (=अपने स्वरूप का ज्ञान) भी होता है और विघ्नों का अभाव होता है।

भाष्य—योग में जो व्याधि आदि विघ्न हैं, वे ईश्वर के प्रणिधान से दूर हो जाते हैं और अपने आत्मा का दर्शन भी होता है।

(प्रश्न) जिस विषय में अभ्यास हो, उसी का ज्ञान होता है, और यहां प्रणिधान तो ईश्वर के विषय में है फिर दर्शन जीवात्मा के कैसे ?

(उत्तर) ईश्वर प्रणिधान से ईश्वर का अनुग्रह मिलता है; जिस से विघ्न दूर हो कर आसन्नतम (बहुत जल्दी) समाधि मिलती है। समाधि पाकर पहले अपने स्वरूप का दर्शन होता है और पीछे परमात्मा का होता है क्योंकि परमात्मा, जीवात्मा का अन्तर्यामी है। जैसा कि श्वेताश्वतर उपनिषद में स्पष्ट किया है।

**यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।**

जब योग युक्त हो कर दीपक के सदृश आत्मतत्व से ब्रह्मतत्व को देखे।

इस लिये ईश्वर प्रणिधान से भी जीवात्मा का दर्शन कहा है। ईश्वर प्रणिधान में विशेषता यह है, कि दूसरे उपायों में अपना पुरुषार्थ ही काम करता है, ईश्वर प्रणिधान में ईश्वर का अनुग्रह उस का साथी हो जाता है, सो यह प्रणिधान विघ्नों को जल्दी दूर करके समाधि को अधिक निकट ले आता है॥

सं०—विघ्न क्या हैं और कितने हैं—

## व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरति भ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवास्थि-तत्वानि चित्तविक्षेपास्तऽन्तरायाः।३०।

शब्दार्थ—( व्याधि···त्वानि ) व्याधि, स्त्यान, संशय प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व (चित्त-विक्षेपाः) चित्त के विक्षेप (ते) वे (अन्त-रायाः ) विघ्न हैं ॥

भाष्य—ये नौ योग के विघ्न हैं, योग के विरोधी हैं क्योंकि ये चित्त के विक्षेपक हैं अर्थात् एकाग्रता से परे फैंकने वाले हैं ॥

व्याधि-रोग, ज्वर आदि । जो धातु वा रस अथवा इन्द्रियों के विकार से होते हैं।

स्त्यान—काम करने की योग्यता न होनी।

संशय—मैं योग साधन कर सकूंगा, कि नहीं कर सकूंगा। करने पर भी सफलता होगी वा नहीं होगी । इस प्रकार का संशय बना रहना।

प्रमाद—योग के अङ्गों का अनुष्ठान न करना।

आलस्य—शरीर वा चित्त के भारी होने से काम में न लगना।

अविरति—विषयों में तृष्णा बनी रहनी।

भ्रान्तिदर्शन–मिथ्या ज्ञान होना।

अलब्धभूमिकत्व-समाधिभूमि का न पाना अर्थात् समाधि अवस्था में न पहुंचना।

अनवस्थितत्व–समाधिभूमि को पाकर भी चित्त का उस में न ठहरना, अर्थात् जल्दी, ध्येय को साक्षात् करने से पहले ही, समाधि का छूट जाना।

ये योग के प्रतिपक्षी, योग के मल और योग के अन्तराय कहलाते हैं।

## दुःखदौर्मनस्याऽङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—(दुःख...साः) दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास (विक्षेप-सहभुवः) विक्षेपों के साथ होते हैं।

भाष्य—दुःख-बाधना, पीड़ा, जिस की चोटें खाकर उस के नाश का प्रयत्न करते हैं। इस का विस्तार २।१६ में लिखेंगे।

दौर्मनस्य–इच्छा के पूरा न होने से मन में क्षोभ होना।

अङ्गमेजयत्व–शरीर के अङ्गों का कांपना।

श्वास–अपनी इच्छा के बिना ही बाहर से वायु का अन्दर प्रवेश होना।

प्रश्वास-बिना इच्छा के भीतर के वायु का बाहर जाना।

ये विक्षेपों के साथ होते हैं अर्थात् विक्षिप्तचित्त वाले

को होते हैं, एकाग्र चित्त वाले को नहीं होते ।

## तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ-( तत्-प्रतिषेधा-ऽर्थम् ) उन के रोकने के लिये (एकतत्वा-ऽभ्यासः) एक तत्त्व में अभ्यास (करना चाहिये) ।

अन्वयार्थ—उनके रोकने के लिये एक तत्त्व में अभ्यास करना चाहिये ।

भाष्य - विक्षेपों के रोकने के लिये किसी अभिमत एक-तत्त्व में चित्त को बार २ लगाना चाहिये, जिसके बल से एकाग्रता के उदय होने पर विक्षेप सारे नाश हो जाते हैं । यह एक साधारण उपाय है, विक्षेपों के दूर करने का सब से उत्तम उपाय तो ईश्वरप्रणिधान है जो पूर्व कह आए हैं । वाचस्पति ने यहां एकतत्त्व से ईश्वर लिया है, क्योंकि उसका प्रकरण है।

सं०-चित्त के अन्दर जब असूया आदि मल हों, तो योग नहीं हो सकता, इस लिये मलों के दूर करने का उपाय कहते हैं—

## मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुख दुःख पुण्या-पुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।३३।

शब्दार्थ—( मैत्री-करुणा-मुदितो-पेक्षाणाम् ) मित्रता, दया, हर्ष और उपेक्षा=उदासीनता=बेपरवाही, के (सुख-दुःख-पुण्या-ऽपुण्य-विषयाणाम् ) सुखी दुःखी पुण्यात्मा और पापियों के विषय में ( भावनातः ) बार २ चिन्तन से ( चित्त-प्रसादनम् ) चित्त की निर्मलता ।

अन्वयार्थ—सुखी दुःखी पुण्यात्मा और पापियों के विषय में मित्रता, दया, हर्ष और उपेक्षा की भावना से चित्त निर्मल होता है।

भाष्य—मनुष्य शरीर से स्वस्थ भी है, आसन पर बैठ गया है, और चित्त को स्थिर करना चाहता है। पर चित्त टिकता नहीं, झट इधर उधर चला जाता है, यह क्यों? इस लिये कि हमारे दिन भर के व्यवहार ईर्ष्या असूया आदि से भरे हुए हैं। जब किसी को आगे बढ़ता हुआ देखते हैं और हम उस की बराबरी नहीं कर सकते, तो हम मन में जलते हैं यही ईर्ष्या है। और फिर इसी के वशीभूत होकर उसके गुणों पर झूठे कलङ्क लगाते हैं, यही असूया है। इत्यादि अनेक प्रकार के दोष हमारे लौकिक व्यवहारों में रहते हैं।

ये चित्त को अडोल नहीं होने देते। साधक को चाहिये कि इस प्रकार के क्षुद्र संस्कारों से चित्त को बचाए रक्खे, प्रत्युत उदारता के संस्कारों को अपने चित्त में जगह दे। और इस लिये उसे अपना चित्त इस भान्ति संस्कृत करना चाहिये, कि सुखी पुरुषों में मित्रता की भावना रक्खे, न कि ईर्ष्या। इस से उन को सुखी देख कर इसे प्रसन्नता होगी। दुःखियों को देख कर यह भावना हो, कि क्या उपाय हो, जिस से इन का दुःख दूर हो सके, यह दया की भावना मनुष्य को घृणा से और किसी की हानि से बचा लेती है। इसी प्रकार पुण्यात्माओं के विषय में हर्ष की भावना रहने से असूया दूर हो जाती है और पापियों के विषय में उदासीनता की भावना से अमर्ष (न सहारना) दूर होता है। इन उपायों से इस का

मन निर्मल होता है । और निर्मल हुआ मन उन उपायों से जो आगे कहेंगे स्थिर होता है । मैत्री आदि की भावना के बिना वे उपाय चित्त को स्थिर नहीं कर सकते ।

सं०—अब मैत्री आदि भावना से निर्मल चित्त वाले के लिये स्थिति के उपाय बतलाते हैं—

## प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।३४।

शब्दार्थ—( प्रच्छर्दन-विधारणाभ्याम् ) बाहर फैंकने और ठहराने से ( वा ) अथवा ( प्राणस्य ) प्राण के ।

अन्वयार्थ—अथवा प्राण के बाहर फैंकने और ठहराने से ( मन को स्थिर करे ) ।

भाष्य—जब मैत्री आदि से चित्त निर्मल हो गया, तब जो अगले सूत्रों में स्थिति के उपाय बतलाएंगे चाहे उन से चित्त को स्थिर करे और चाहे प्राणों को धीरे २ बाहर फैंकना और फिर उन को यथाशक्ति वहां ही ठहरा देना, इस से चित्त को स्थिर करे । क्योंकि प्राण के जीतने पर चित्त जीता जाता है ॥

सं०—चित्त स्थिति का और उपाय बतलाते हैं—

## विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी ॥३५॥

शब्दार्थ—(विषयवती) (गन्धादि) विषयों वाली ( वा ) अथवा (प्रवृत्ति) प्रवृत्ति ( उत्पन्ना ) उत्पन्न हुई ( मनसः ) मन की ( स्थिति-निबन्धनी ) स्थिति को बांधने वाली ।

अन्वयार्थ—अथवा विषयों वाली प्रवृत्ति उत्पन्न हो कर मन की स्थिति को बांधने वाली होती है।

भाष्य—जब पुरुष नासिका के अग्र में चित्त का संयम करे, तो उस को दिव्यगन्ध का साक्षात्कार होता है, इसी प्रकार जिह्वा के अग्र में दिव्य रस का, तालु में दिव्य रूप का, जिह्वा के मध्य में दिव्यस्पर्श का, और जिह्वा के मूल में संयम करने से दिव्यशब्द का साक्षात्कार होता है।

ये दिव्य विषय शीघ्र साक्षात् हो जाते हैं, तब विश्वास बढ़ जाता है और मन सूक्ष्म ईश्वर आदि में भी स्थिर हो जाता है। यद्यपि सच्छास्त्रों, अनुमान और आचार्यों के उपदेशों से जो बात जानी है वह ठीक ही होती है, तथापि जब तक शास्त्र का कोई हिस्सा अपने इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता है, तब तक सब कुछ परोक्षसा होता है उस में दृढ़ बुद्धि नहीं होती। इस लिये शास्त्र अनुमान और आचार्य्य के उपदेश को पक्का करने के लिये अवश्य कोई भेद प्रत्यक्ष करना चाहिये। जब कोई एक हिस्सा भी प्रत्यक्ष हो जाए, तब मुक्ति पर्यन्त सारे सूक्ष्म विषयों पर पूर्ण श्रद्धा हो जाती है। श्रद्धामूल ही योग है। श्रद्धा बढ़ने से निर्विघ्न योग की सिद्धि होती है (देखो १।२०)।

सं०—इसी प्रकार का और उपाय कहते हैं—

## विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—( वि-शोका ) शोक से रहित ( वा ) अथवा ( ज्योतिष्मती ) ज्योति=प्रकाश, वाली।

अन्वयार्थ—अथवा जो प्रवृत्ति शोक से रहित है और

प्रकाश वाली है, वह उत्पन्न हो कर मन की स्थिति को बांधने वाली होती है ।

भाष्य—हृदय कमल में सुषुम्णा नाड़ी के अन्दर संयम करने से मन का साक्षात् होता है । वह मन सूर्य, चन्द्र, ग्रह और मणियों की जो २ प्रभा हैं उन २ के रूप के तुल्य अनेक प्रकार का प्रतीत होता है । यही सात्विक ज्योति मन है । इस का कारण जो सात्विक अहङ्कार (अस्मिता) * निस्तरङ्ग समुद्र के सदृश शान्त है उस में संयम करने से उस का भी साक्षात् होता है । मन और अहङ्कार दोनों सात्विक ज्योति हैं । सात्विक होने से ही इनके अनुभव से सुख ही सुख प्रतीत होता है, शोक लेशमात्र को भी नहीं रहता । इसी लिये यह प्रवृत्ति विशोका है और इन में संयम करने से अनेक प्रकार की ज्योतियें अनुभव होती हैं, इसलिये इस का नाम ज्योतिष्मती है । पहली का नाम विषयवती ज्योतिष्मती है और दूसरी का नाम अस्मितामात्रा ज्योतिष्मती है ।

## वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—(वीतराग-विषयम्) जिस में राग नहीं उन पुरुषों को विषय करने वाला (वा) अथवा (चित्तम्) चित्त ।

अन्वयार्थ—अथवा वीत राग पुरुष को विषय करने वाला चित्त मन की स्थिति को बांधता है ।

---

* इसी अस्मिता के विषय में पञ्च शिखाचार्य का सूत्र है । 'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते' इस सूक्ष्ममात्र आत्मा को ढूंढ कर मैं हूं इस प्रकार पहले जानता है (व्यास भाष्य)

भाष्य—वामदेव और याज्ञवल्क्य आदि महापुरुष, जिन में विषयों का राग नहीं था और अब भी जो इस प्रकार के वीत राग पुरुष हैं, उनके जीवन के ध्यान से उनके चरित्र की तरफ झुकता हुआ साधक का चित्त भी उसी रंग में रंग जाता है। और वह विषयों से विरक्त हो कर सर्वत्र स्थिति के योग्य बन जाता है ॥

सं०—अन्य उपाय कहते हैं—

## स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—(स्वप्न-निद्राज्ञाना-ऽऽलम्बनम्) स्वप्न ज्ञान और निद्राज्ञान को आश्रय करने वाला (वा) अथवा।

अन्वयार्थ—अथवा स्वप्न ज्ञान और निद्राज्ञान को आश्रय करने वाला (चित्त स्थिति को पाता है)।

भाष्य—जाग्रत में पुरुष स्थूल देह में विचरता है। और स्वप्न में सूक्ष्म देह में अर्थात् बिना ही स्थूल देह के देखता सुनता है। निद्रा में केवल कारण शरीर में विचरता है। जब जाग्रत में भी स्वप्न और निद्रा के ज्ञान को आश्रय करता है तो उस का चित्त एक जगह स्थिति पाता है।

सं०—और सुगम उपाय बतलाते हैं-

## यथाभिमत ध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—(यथा-ऽभिमत-ध्यानात्) जो जिस को अभि-मत है उस के ध्यान से (वा) अथवा।

अन्वयार्थ—अथवा जो जिस को अभिमत है उस के ध्यान से (मन की स्थिति होती है)।

भाष्य—मनुष्य नानारुचि होते हैं, इस लिये जिस को ा अभिमत है, जिस में उस का चित्त लगता है, पहले उसी बाह्य वा आभ्यन्तर वस्तु में चित्त को ठहराए, इस तरह चित्त जब एक जगह ठहरना सीख जाए, तो उस में स्थिर रहने की योग्यता बन जाती है, फिर जहाँ चाहे, वहाँ ठहरा सकते हैं।

सं०—चित्त को स्थिर करने के उपाय बतला दिये, अब उन का फल बतलाते हैं—

## परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्यवशीकारः ।४०।

शब्दार्थ—( परमाणु-परम महत्त्वा-ऽन्तः ) मरमाणु=सब से बढ़कर सूक्ष्म और परम महत् (सब से बढ़कर महान् ) पर्यन्त ( अस्य ) इस का ( वशीकारः ) वशीकार।

अन्वयार्थ—परमअणु और परम महान् पदार्थों तक इस का वशीकार होता है।

भाष्य—पूर्वोक्त उपायों के अनुष्ठान से जब चित्त स्थिर होना सीख जाता है, तो सूक्ष्म में लगाने से परमाणु पर्यन्त और महान् में लगाने से परम महान्-आकाश आदि पर्यन्त, जहाँ चाहो, वहीं चित्त स्थिर हो सकता है। कोई रुकावट नहीं होती। चित्त में स्थिर होने का स्वभाव पक्का हो गया है, इस बात का चिन्ह भी यही है, कि तुम्हारा उस पर इतना वश होगा, कि जहाँ चाहो स्थिर करलो, चाहे वह विषय कितना ही सूक्ष्म और कितना ही महान् हो। जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है, तो फिर उन उपायों के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं रहती, जो पूर्व चित्त को स्थिर करना सिखाने के लिये बतलाए हैं। उन की आवश्यकता यहीं तक है, आगे नहीं।

सं०—इस प्रकार इन उपयों से संस्कृत हुए चित्त का क्या रूप होता है, यह कहते हैं—

**क्षीणवृत्तेरभिजातस्येवमणेर्गृहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥४१॥**

शब्दार्थ—(क्षीण-वृत्तेः) क्षीण हुई वृत्तियों वाले ( अभि-जातस्य) कुलीन=निर्मल (इव) नाईं (मणेः) मणि की (गृहीतृ-ग्रहण-ग्राह्येषु ) ग्रहीता=अस्मिता, ग्रहण=इन्द्रिय और ग्राह्य= स्थूल सूक्ष्म विषय में ( तत्स्थ-तदञ्जनता ) उन में स्थित हो कर तन्मय हो जाना ( समापत्तिः ) तद्रूप होना है।

अन्वयार्थ—क्षीण हुई वृत्तियों वाले चित्त का मणि की नाईं ग्रहीता ग्रहण और ग्राह्य में स्थित हो कर तन्मय हो जाना तद्रूप होना है।

भाष्य—जिस तरह बिलौर आप श्वेत है, पर उस के सामने जब लाल वस्तु हो, तो बिलौर लाल प्रतीत होता है, नीली हो, तो नीला अर्थात् बिलौर अपने रूप को ढांप कर उसी के रूप से तद्रूप प्रतीत होता है । इसी प्रकार चित्त में से जब राजस तामस वृत्तियें दूर हो जाती हैं, तो फिर चित्त इतना स्वच्छ हो जाता है, कि जिस वस्तु में उस को एकाग्र किया जाता है, वहीं वह अपने रूप ( आकार) को ढांप कर तद्रूप हो जाता है, पर चित्त का तद्रूप होना कोई रंग बदलना नहीं, किन्तु तन्मय ( उसी में लीन ) हो जाना है, यही सम्प्रज्ञात समाधि है । इस अवस्था में जहाँ चित्त लगाया है, वहीं वह लीन हो कर उस वस्तु को साक्षात् कराता है । जब, ग्राह्य

( किसी बाह्य स्थूल वा सूक्ष्म विषय ) में लगाया जाता है, तो ग्राह्य में लीन हो कर उस का साक्षात् कराता है। इसी प्रकार ग्रहण ( इन्द्रियों ) और ग्रहीता ( अस्मिता ) में लगाने से उन का साक्षात् कराता है।

यहां पहले ग्राह्य में चित्त की एकाग्रता होती है, वह स्थूल, सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का है, फिर ग्रहण में और फिर ग्रहीता में । इस समाधि के विषय में पूर्व ( १७ सूत्र में ) भी लिख आए हैं । और अगले सूत्रों में भी इसी का विचार है ।

सं०—अब इस समापत्ति के चार भेद दिखलाते हैं—

## शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का ।४२।

शब्दार्थ—( शब्दा-ऽर्थ-ज्ञान-विकल्पैः ) शब्द अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से ( संकीर्णा ) मिली हुई ( स-वितर्का ) सवितर्का ।

अन्वयार्थ—शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से मिली हुई ( समापत्ति ) सवितर्का समापत्ति होती है ।

भाष्य—ग्राह्य के दो भेद हैं स्थूल और सूक्ष्म इन में से पहले स्थूल में चित्त को एकाग्र करने से जो समाधि होती है, वह वितर्क समापत्ति है । वितर्क समापत्ति के दो भेद हैं,सवितर्का और निर्वितर्का । इसी प्रकार सूक्ष्म विषय में विचार समापत्ति होती है, उसके भी दो भेद हैं, सविचारा और निर्विचारा इन को क्रम से वर्णन करते हैं ।

जितने पदार्थ हैं, उतने ही नाम हैं। मनुष्य का व्यवहार इन्हीं नामों से चलता है । हमें इन का इतना अभ्यास हो गया

है, कि एक के ज्ञात होते ही झट दूसरे का ज्ञान हो जाता है। अर्थ को देख कर साथ ही शब्द का स्मरण आजाता है और शब्द को सुनते ही अर्थ का ध्यान होता है। इसलिये जब योगी किसी स्थूल लक्ष्य पर समाधि जमाता है, तो पहले पहल जो उस को उस पदार्थ का साक्षात् होता है, उस में उस को पूर्व अभ्यास के अनुसार शब्द अर्थ और ज्ञान इन तीनों की प्रतीति होती है, जब तक इन तीनों की प्रतीति से मिली हुई समाधि है, तब तक सवितर्क समाधि है।

इस के अनन्तर—

## स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—( स्मृति-परिशुद्धौ ) स्मृति की सफाई होने पर=स्मृति के दूर होने पर ( स्वरूप-शून्या, इव ) स्वरूप से शून्य हुई की नांइ ( अर्थ मात्र-निर्भासा ) अर्थमात्र को प्रकाश करने वाली ( निर्विकर्ता ) निर्वितर्का है।

अन्वयार्थ—स्मृति के दूर होने पर स्वरूप से शून्य हुई की नांइ जो अर्थमात्र को प्रकाश करने वाली समापत्ति है। वह निर्वितर्का समापत्ति है।

भाष्य—जब तक शब्द की स्मृति बनी रहती है, तब तक सवितर्का समापत्ति है। जब फिर चित्त अर्थमात्र का आदर करता हुआ अर्थमात्र की ओर झुक जाता है, तब शब्द की स्मृति दूर हो जाती है। उस स्मृति के दूर होने पर केवल अर्थमात्र की प्रतीति रह जाती है। यही निर्वितर्का समापत्ति

है । यद्यपि इस अवस्था में ज्ञान तो बना रहता है, पर वह भी न रहने के बराबर होता है, क्योंकि वह उस समय अलग प्रतीत नहीं होता । मानों अपने ग्रहण ( ज्ञान ) स्वरूप को त्याग कर ग्राह्यस्वरूप ही बन जाता है । इसी लिये 'स्वरूप शून्या' के साथ 'इव' कहा है । अर्थात् ज्ञान का स्वरूप यद्यपि बना रहता है, पर वह न होने के बराबर होता है, क्योंकि अलग प्रतीत नहीं होता । वितर्क विचार इत्यादि ( पूर्व १७ ) सूत्र में जो स्थूल विषय में वितर्क योग कहा है, उसी के यहाँ सवितर्क और निर्वितर्क दो भेद किये हैं । यही दोनों भेद सविकल्प और निर्विकल्प शब्दों से भी शास्त्रों में कहे हैं । यह दोनों प्रकार का योग स्थूल विषय में होता है । सूक्ष्म विषय में आगे सविचार और निर्विचार कहते हैं ।

## एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्म-विषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—(एतया, एव) इस से ही ( सविचारा, निर्विचारा, च ) सविचारा और निर्विचारा ( सूक्ष्म-विषया ) सूक्ष्म विषय में ( व्याख्याता ) व्याख्या की गई ।

अन्वयार्थ—इसी से ही ( सवितर्का, निर्वितर्का से ही) सूक्ष्म विषय में सविचारा और निर्विचारा समापत्ति व्याख्या की गई जाननी चाहिये ।

भाष्य—'वितर्क विचारा'...इत्यादि सूत्र में सूक्ष्म विषय में विचार सम्प्रज्ञात कहा है, उसी के यहां पर सविचार और निर्विचार दो भेद किये हैं । स्थूल विषय में सवितर्का और

निर्वितर्का समापत्ति होती है। सूक्ष्म विषय में सविचारा और निर्विचारा होती है । जब तक सूक्ष्म विषय देश, काल और निमित्त के साथ प्रतीत होता है, तथा शब्द अर्थ और ज्ञान के साथ प्रतीत होता है, तब तक सविचारा समापत्ति होती है। फिर जब अर्थ को साक्षात् करते २ देश, काल, निमित्त और शब्द सब भूल जाते हैं, केवल अर्थमात्र ही प्रतीत होता है, वह निर्विचारा है ॥

सं—सूक्ष्म विषय कहाँ तक हैं, यह कहते हैं—

## सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥४५॥

शब्दार्थ—( सूक्ष्य-विषयत्वम् ) सूक्ष्म विषयता ( च ) और ( अलिङ्ग-पर्यवसानम् ) प्रकृति पर्यन्त ।

अन्वयार्थ—सूक्ष्म विषयता प्रकृति पर्यन्त है ।

भाष्य—पञ्च महाभूत स्थूल विषय हैं। उन में सवितर्का और निर्वितर्का समापत्ति होती है । इन को साक्षात् करके फिर चित्त क्रम से सूक्ष्म विषयों को सविचारा और निर्विचारा समापत्ति के द्वारा साक्षात् करता है । सूक्ष्मता का क्रम यह है। पञ्च महाभूतों से पञ्च तन्मात्रा सूक्ष्म हैं, पञ्च तन्मात्राओं से अहङ्कार, अहङ्कार से महत्तत्त्व और महत्तत्त्व से प्रकृति सूक्ष्म है ।

यद्यपि पुरुष प्रकृति से सूक्ष्म है। तथापि यहाँ सूक्ष्म २ उपादान कारण से तात्पर्य है। पुरुष प्रकृति का उपादान कारण नहीं । इस लिये सब से बढ़ कर सूक्ष्मता प्रकृति तक ही समाप्त की है ।

सं०--यह चारों समापत्तियें सम्प्रज्ञात समाधि हैं, यह बतलाते हैं—

## ता एव सबीजः समाधिः ॥४६॥

शब्दार्थ-(ताः, एव) वे ही (स-बीजः) सबीज (समाधिः) समाधि।

अन्वयार्थ—वे ही सबीज समाधि हैं।

भाष्य—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार ये ही चार समापत्तियें सबीज समाधि हैं। अर्थात् यहां तक संसार का बीज बना रहता है, क्योंकि अभी तक पुरुष प्रकृति से परे नहीं पहुंचा।

सं०—इन चारों में से निर्विचार समापत्ति सब से बढ़ कर है यह दिखलाते हैं—

## निर्विचारवैशारद्ये ऽध्यात्मप्रसादः ॥४७॥

शब्दार्थ—(निर्विचार-वैशारद्ये) निर्विचार की निर्मलता में ( अध्यात्म-प्रसादः ) अध्यात्म ( प्रज्ञा ) की निर्मलता।

अन्वयार्थ—निर्विचार की निर्मलता में अध्यात्म की निर्मलता होती है।

भाष्य—निर्विचार समाधि ज्यों २ बढ़ती है, त्यों २ उस की स्थिति का प्रवाह निर्मल होता जाता है। स्थिति होने पर प्रज्ञा निर्मल होती है। अब उस को प्रकृति पर्यन्त सारे पदार्थ शीशे की तरह एकदम साफ दिखलाई देते हैं। इस अवस्था में योगी जन—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्याशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानि शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञो ऽनुपश्यति ॥

जिस तरह पर्वत पर खड़ा हुआ पुरुष नीचे के लोगों को ( नीचे और छोटा ) देखता है, इसी प्रकार प्रज्ञा की निर्मलता ( की चोटी ) पर चढ़कर शोक की पहुंच से ऊंचा बैठा हुआ प्राज्ञ पुरुष शोक में डूबे हुए सारे लोगों को ( नीचे ) देखता है ।

निर्विचार समाधि की निर्मलता होने पर प्रज्ञा के पूरा २ निर्मल होने से योगी प्रकृति और उसके कार्यों को अलग २ देखता हुआ पुरुष को उनसे भिन्न साक्षात् देखता है। प्रज्ञा की इस निर्मलता को अध्यात्मप्रसाद, स्फुटप्रज्ञालोक, प्रज्ञाप्रसाद, ऋतम्भरा प्रज्ञा और सत्त्वपुरुषान्यताख्याति कहते हैं ।

सं०—निर्विचार की निर्मलता में जो प्रज्ञा होती है, उसका जो नाम योगियों में प्रसिद्ध है, उस यथार्थ नाम से उसकी उत्तमता दिखलाते हैं—

## ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥४८॥

शब्दार्थ-( ऋतम्भरा ) सचाई को धारण करने वाली ( तत्र ) उसमें ( प्रज्ञा ) प्रज्ञा ।

अन्वयार्थ—ऋतम्भरा उस में प्रज्ञा होती है ।

भाष्य—उस निर्मलता में जो प्रज्ञा होती है, उस का नाम ऋतम्भरा है । यह उस का यथार्थ नाम है । क्योंकि वह सत्य को ही धारण करती है, उस में भ्रान्ति का गन्ध भी नहीं होता ॥

सं०—सूक्ष्म पदार्थों का अनुमान से और शब्द से भी ज्ञान होता है उन दोनों प्रकार के ज्ञानों से इस प्रज्ञा में विलक्षणता दिखलाते हैं—

## श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥४९॥

शब्दार्थ—(श्रुता-ऽनुमान-प्रज्ञाभ्याम्) आगम और अनुमान की प्रज्ञा से (अन्य-विषया) इस का विषय अलग है (विशेषा-ऽर्थत्वात्) विशेष विषय वाली होने से ।

अन्वयार्थ—आगम और अनुमान की प्रज्ञा से इस का विषय अलग है क्योंकि इस का विषय विशेष है ।

भाष्य—पदार्थ के दो रूप होते हैं एक सामान्य और दूसरा विशेष । सामान्य वह है जो उस प्रकार के सब पदार्थों में पाया जाता है । और विशेष वह है, जो प्रत्येक का अपना २ रूप है; जिस से एक ही प्रकार के पदार्थों में भी एक दूसरे से भेद हो सकता है । आगम और अनुमान से जो पदार्थ का ज्ञान होता है, वह उस के सामान्य रूप का होता है । जैसे वृक्ष इस शब्द को सुन कर जो हमें वृक्ष का ज्ञान होगा, वह ऐसा ही होगा, जो सारे वृक्षों पर घट सके । इसी प्रकार जो अनुमान से ज्ञान होगा, वह भी वैसा ही होगा, जो सारे वृक्षों पर घट सके । पर जब हम उस को आंखों से देखते हैं, तब उसका वह स्वरूप, जो उस का दूसरे वृक्षों से विशेष है, हम देखते हैं । आगम और अनुमान इस स्वरूप को नहीं दिखला सकते । केवल प्रत्यक्ष का ही यह सामर्थ्य है, कि वह इस स्वरूप को

दिखला सकता है । पर प्रत्यक्ष भी स्थूल वस्तुओं के स्वरूप को ही दिखला सकता है। सूक्ष्म वस्तुओं में प्रत्यक्ष की पहुंच नहीं। पञ्चतन्मात्राएं, अहङ्कार, महत् तत्त्व, प्रकृति, इन सूक्ष्म पदार्थों में प्रत्यक्ष की तो पहुंच ही नहीं। आगम और अनुमान से इन का पता लगता है, पर वह इन के सामान्य रूप का। क्योंकि आगम और अनुमान विशेष स्वरूप को नहीं बतला सकते। पर हम चाहते हैं इनके विशेष स्वरूप का दर्शन करना। जैसे अपने हाथ पर रखे हुए आमले को स्पष्ट देखते हैं, इस प्रकार इनको स्पष्ट देखना चाहते हैं । सो यह सामर्थ्य किस में है ? इस निर्विचार समाधि में है। आगम और अनुमान से हम उन के सामान्यरूप को जानते हैं, पर इस निर्विचार समापत्ति में यही विशेषता है कि यह उन के विशेष स्वरूप को दिखला देती है ॥

सं०—इस प्रज्ञा का फल कहते हैं—

## तज्जः संस्कारो अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी । ५० ।

शब्दार्थ—(तज्-जः) उस से उत्पन्न होने वाला (संस्कारः) संस्कार (अन्य-संस्कार-प्रतिबन्धी) दूसरे संस्कारों का रोकने वाला ॥

अन्वयार्थ—उस (निर्विचार प्रज्ञा) से उत्पन्न होने वाला संस्कार दूसरे (व्युत्थान के) संस्कारों का रोकने वाला होता है ॥

भाष्य—समाधि से पहले तो चित्त केवल व्युत्थान के संस्कारों से ही संस्कृत होता है। पर अब समाधि की अवस्था में उसको जो अनुभव होता है, उसके भी संस्कार पड़ते हैं। यह

संस्कार पहले संस्कारों से बलवान् होतेहैं, क्योंकि प्रज्ञा की निर्मलता में पदार्थ का तत्त्व अनुभव होता है । यह बात व्युत्थान की प्रज्ञा में नहीं होती है। और जितना तत्व का अनुभव होता है, उतने ही उस के संस्कार प्रबल होते हैं । इन संस्कारों की प्रबलता से फिर समाधिप्रज्ञा होती है, उस से फिर वैसे ही संस्कार होते हैं । इस प्रकार लगातार चक्र से ये संस्कार पुष्ट हो कर व्युत्थान के संस्कारों को सर्वथा रोक देते हैं ॥

सं०—इस प्रकार सबीज समाधि कह कर अब निर्बीज समाधि कहते हैं—

## तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥५१॥

शब्दार्थ—(तस्य) उस के=सबीज समाधि के संस्कार के (अपि) भी ( निरोधे ) रुक जाने पर ( सर्व-निरोधात् ) सब के रुकजाने से (निर्-बीजः) निर्बीज ( समाधिः ) समाधि ॥

अन्वयार्थ—जब वह भी रुक जाता है, तो अब सब के रुकजाने से निर्बीज समाधि होती है ।

भाष्य—सबीज समाधि ने व्युत्थान के संस्कारों को रोक दिया था । अब सबीज समाधि के संस्कार चित्त को बार २ समाधि प्रज्ञा में लगाते हैं । इस प्रज्ञा से वह अपने में और प्रकृति में जो भेद देख लेता है, यह भेद उस को, चित्त अपनी एकाग्रवृत्ति द्वारा दिखला रहा है। वृत्ति कोई भी आत्मा का स्वरूप नहीं, वह चित्त का ही रूप है, और इस लिये अभी तक आत्मा के सामने एक दृश्य ही है । इसलिये आत्मा इस

से भी अलग हो कर अपने स्वरूप में अब स्थिति चाहता है। उस की यह प्रबल इच्छा समाधिप्रज्ञा के संस्कार को भी रोकती है। इस लिये अब ये संस्कार भी रुकजाते हैं, और चित्त की एकाग्रवृत्ति भी रुकजाती है। अब सारी वृत्तियें रुक गई हैं, अब द्रष्टा के सामने कोई दृश्य नहीं रहा, बस अब वह अपने आप में आजाता है, अपने स्वरूप में अवस्थित होता है। अपने स्वरूप में अवस्थित होते ही अपने अन्दर अन्तर्यामी शुद्ध परमात्मा के दर्शन करता है, जिस के विषय में यह कहा है—

**यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेहयुक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वं तत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥**

जब योगयुक्त हो कर दीपक के तुल्य आत्मतत्व से ब्रह्मतत्व को देखे, जो अजन्मा अटल और सब तत्वों से विशुद्ध है,तब उस देव को जान कर सब फांसों से छूट जाता है।

यही योग का परम उद्देश्य है, इससे परे कुछ नहीं॥

**योगस्योद्देशनिर्देशौ तदर्थं वृत्तिलक्षणम्। योगोपायाः प्रभेदाश्च पादेऽस्मिन्नुपवर्णिताः।**

———

* ओ३म् *

# साधनपादः ।

सं०—पहले पाद में योग का स्वरूप उसके भेद और उसका फल बतलाया है । और योग के उपाय अभ्यास और वैराग्य बतलाए हैं, और अभ्यास साधन की कई विधियें बतलाई हैं। ये उपाय जिस का चित्त शुद्ध है, उसी से हो सकते हैं । पर वह जिस का चित्त विक्षिप्त है, विषयों से उपरत नहीं हुआ। उस का तो चित्त शुद्ध नहीं, अतएव उसके लिये अभ्यास और वैराग्य आसान नहीं । तब क्या उपाय हो, जिस से उस का चित्त भी शुद्ध हो कर अभ्यास और वैराग्य को संपादन कर सके, इस अभिप्राय से इस पाद में योग के अंग बतलाएंगे, जो चित्त की शुद्धि के असंदिग्ध उपाय हैं । उन में से पहले चित्त शुद्धि का एक बड़ा उपयोगी और बड़ा आसान उपाय क्रियायोग बतलाते हैं—

## तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

शब्दार्थ—( तपः-स्वाध्याये-श्वर-प्रणिधानानि ) तप, स्वाध्याय, और ईश्वरप्रणिधान ( क्रिया-योगः ) क्रियायोग= कर्मयोग है ।

अन्वयार्थ—तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान यह क्रियायोग है ।

भाष्य—तप—सहनशील होना (शीत, उष्ण; सुख, दुःख

आदि जो द्वन्द हैं उन का सहारना ) और हित, परिमित और शुद्ध अन्न ( नेक कमाई से कमाया हुआ, और सात्विक भावों को उत्पन्न करने वाला ) का खाना, इत्यादि तप है । इस के होने से चित्त में से क्षुद्रता की वासनाएं उखड़ती हैं, गम्भीरता आती है, और वह निर्मल होता है।

**स्वाध्याय**—जिन से धर्म और ब्रह्मविद्या की शिक्षा मिलती है, उन वेद, उपनिषद् आदि शास्त्रों का प्रतिदिन नियत समय पर पाठ करना, इस नियत से, कि उन से धर्म और ब्रह्मविद्या की शिक्षा को धारण करे । और ओंकार तथा गायत्री आदि का जप स्वाध्याय है।

**ईश्वरप्रणिधान**—सारे कर्मों को ईश्वर के समर्पण करना और उन के फल का त्याग।

**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन** (गीता)

कर्म में ही तेरा अधिकार है, फलों में कभी नहीं।

यद्यपि यम, नियम आदि सारे क्रियायोग ही हैं, और उन्हीं के अन्दर तप आदि भी आजाते हैं, तौ भी ये तीनों उत्तम साधन हैं और ये अकेले अनुष्ठान किये हुए भी, चित्त को शुद्ध बना कर योग के योग्य बना देते हैं, इस लिये इनको उन से अलग पहले ही उपदेश कर दिया है।

सं०—क्रियायोग का फल कहते हैं—

## समाधि भावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

शब्दार्थ—( समाधि-भावना-ऽर्थः ) समाधि की उत्पत्ति

है प्रयोजन जिस का (क्लेश-तनू-करणा-ऽर्थः) क्लेशों का सूक्ष्म करना है प्रयोजन जिस का (च) और ।

अन्वयार्थ—(क्रियायोग) समाधि की उत्पत्ति के लिये और क्लेशों को सूक्ष्म करने के लिये है ।

भाष्य—प्रबल क्लेशों ( २ । ३ ) के होते हुए समाधि सिद्ध नहीं होती, सो क्रियायोग चित्तशुद्धि द्वारा पहले उन घने क्लेशों को विरला बनाता है । जो क्लेश पहले सदा बने रहते थे, अब वे कभी २ उत्पन्न होते हैं । यही सभाधि को अवसर मिल जाता है । समाधि में फिर विवेकख्याति उदय होती है । विवेकख्याति के उदय होने से क्लेश मूल से उखड़ जाते हैं । पर जब तक क्लेश विरले नहीं होते, कुछ नहीं बनता इस लिये पहले क्रियायोग में तत्पर होना चाहिये ॥

सं०—जिन के सूक्ष्म करने के लिये क्रियायोग का उपदेश है, वे क्लेश ये हैं—

## अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाःक्लेशाः।३।

अन्वयार्थ—( १) अविद्या ( २ ) अस्मिता (३) राग (४) द्वेष और ( ५ ) अभिनिवेश ( ये पांच ) क्लेश ( हैं ) ।

भाष्य—यही पांच विपर्यय हैं, यद्यपि विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान अविद्या ही है, अस्मिता आदि विपर्यय स्वरूप नहीं, तथापि अस्मिता आदि चारों का कारण अविद्या ही है। अविद्या से अलग हो कर ये नहीं रहते । इस लिये ये भी विपर्यय कहलाते हैं । और इसी लिये अविद्या के नाश से ही इन सब का नाश हो जाता है ॥

मुद्रित पुस्तकों में 'पञ्च क्लेशाः' ऐसा पाठ मिलता है, पर इस सूत्र के भाष्य में 'क्लेशा इति' लिख कर 'पञ्चविपर्यया इत्यर्थः' यह व्याख्या की है। इस से प्रतीत होता है कि 'पञ्च' शब्द सूत्र के अन्तर्गत नहीं है। 'पञ्च विपर्यया इत्यर्थः' इस भाष्य की व्याख्या में विज्ञानभिक्षु ने लिखा है कि-'पञ्चेत्यर्थाल्लब्धम्' अर्थात् पञ्च यह अर्थसिद्ध है क्योंकि गिनने से पांच ही होते हैं, इस से भी स्पष्ट है कि 'पञ्च' शब्द सूत्र के अन्तर्गत नहीं। लिखित पुस्तकों में भी कहीं मिलता है और कहीं नहीं मिलता ॥

सं०---इन पांचों क्लेशों में जो अविद्या है, वही दूसरे क्लेशों का मूल है, यह दिखलाते हैं—

## अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—(अविद्या) अविद्या (क्षेत्रम्) क्षेत्र=उत्पत्ति की भूमि (उत्तरेषाम्) उत्तरों का=अस्मिता आदि का (प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्नोदाराणाम्) प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदारों का।

अन्वयार्थ—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार इन चार भेदों वाले अस्मिता आदि का अविद्या क्षेत्र है।

भाष्य—अस्मिता आदि चारों के चार भेद हैं, (१) 'प्रसुप्त' जो सोए हुए हैं (२) तनु, जो सूक्ष्म हो गए हैं, (३) विच्छिन्न जो टूट गए हैं और (४) उदार जो वर्त्तमान हैं।

**प्रसुप्त**-जो क्लेश चित्तभूमि में अवस्थित तो हैं, पर अभी जागे नहीं, इस लिये अपना कार्य नहीं दिखलाते, वे

"प्रसुप्त" हैं । जब उन के जागने का समय आता है, तो जाग उठते हैं । जैसे बाल्यावस्था में बालक का विषयानुराग प्रसुप्त है, यौवन में वही जाग उठता है । जन्म मरण के अन्तराल में क्लेश प्रसुप्त होते हैं, विदेह और प्रकृतिलयों के क्लेश प्रसुप्त होते हैं, अवधि पाकर जाग उठते हैं ।

तनु—जिन के काम करने की शक्ति शिथिल करदी गई है, जब तक उन को प्रभूत सामग्री न मिले, कार्य नहीं करते । यह शिथिलता क्रियायोग (२ । २) से होती है । या यथार्थज्ञान के अभ्यास से अविद्या, भेद दर्शन के अभ्यास से अस्मिता, मध्यस्थ रहने के अभ्यास से राग और द्वेष, और ममता के त्याग के अभ्यास से अभिनिवेश शिथिल होता है । सामान्य लोगों को क्लेश जल्दी सताते हैं, इन अभ्यासियों को जल्दी नहीं सताते । जिन छोटी २ बातों में अनभ्यासियों को राग द्वेष होता है, उन से ये ऊपर रहते हैं । इन में कोई भारी बात ही राग द्वेष उत्पन्न करती है ।

विच्छिन्न और उदार—विच्छिन्न=टूटे हुए । उदार=वर्त्तमान । जब चित्त के अन्दर राग वर्त्तमान है, उस समय क्रोध विच्छिन्न है और राग उदार है, और जब क्रोध वर्त्तमान है तब राग विच्छिन्न है और क्रोध उदार है । इस प्रकार राग विच्छिन्न २ होकर फिर २ उदार होता है और क्रोध भी विच्छिन्न २ हो कर फिर २ उदार होता है । जब किसी एक विषय में राग है, तब वह राग दूसरे विषयों में प्रसुप्त तनु वा विच्छिन्न होता है ।

क्लेशों का मूल अविद्या है, जब पुरुष का साक्षात् होने से अविद्या नष्ट होती है, तब क्लेश भी नष्ट होते हैं, जैसे जीव-

मुक्तों के क्लेश क्षीण हो जाते हैं यही क्लेशों की पांचवीं अवस्था है। पर इसका मूल अविद्या नहीं, किन्तु विद्या है और न ही यह संसार का हेतु है, इस लिये ऊपर के भेदों में इस को नहीं गिना ॥

(प्रश्न) वर्त्तमान क्लेश तो पुरुष को दुःखी करते हैं, इस लिये वे क्लेश हैं, पर प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तो उस २ अवस्था में पुरुष का कुछ नहीं बिगाड़ते, फिर उनको क्लेश क्यों कहा?

( उत्तर ) यद्यपि प्रसुप्त तनु और विच्छिन्न अवस्था में वे पुरुष का कुछ नहीं बिगाड़ते, पर जब तक उन की जड़ है, वे फिर हरे भरे हो कर पुरुष को दुःखी करते ही हैं, इस लिये उन्हें ' क्लेश ' कहा है ॥

सं०—अविद्या क्या है ? यह बतलाते हैं-

## अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि-सुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—( अनित्या-ऽशुचि-दुःखा-ऽनात्मसु ) अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा में ( नित्य-शुचि-सुखा-ऽऽत्म-ख्यातिः ) नित्य, पवित्र, सुख और आत्मा का ज्ञान (अविद्या) अविद्या।

अन्वयार्थ—अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा में नित्य, पवित्र, सुख और आत्मा का ज्ञान अविद्या है।

( १ ) जो कुछ उत्पन्न हुआ है, वह सब विनाशी है, उस को नित्य समझना अविद्या है। जैसा इन २ कर्मों के करने से

स्वर्ग में जन्म मिलता है । यहां सब के लिये मृत्यु है, वहां किसी के लिये मृत्यु नहीं । इत्यादि अविद्या है ।

(२) अपवित्र को पवित्र जानना अविद्या है, मन के अन्दर दुष्ट भावों के समूह विद्यमान हों, तौ भी अपने आप को पवित्र मानना । धर्म का लेश भी हृदय में न रखकर बाहर के आडम्बरों से ही अपने आप को दूसरों से बड़ा जानना । पाप और दीनता से कमाए हुए धन को, जो वास्तव में अनर्थ है उस को, अर्थ मानना इत्यादि अविद्या है ।

(३) दुःख को सुख जानना । जिन का परिणाम दुःख है, उन विषयों को सुख समझना । इत्यादि अविद्या है ।

(४) शरीर, इन्द्रिय, और चित्त जो कि अनात्मवस्तु हैं अर्थात् अपने स्वरूप से भिन्न वस्तु हैं, इन्हीं को, अपना आत्मा ( स्वरूप ) समझना अविद्या है ।

सीप को चांदी समझना, रस्सी को सांप समझना इत्यादि रूप से अविद्या के विषय अनन्त हैं । पर यहाँ ये चार ही प्रकार की अविद्याएं वर्णन की हैं, इस का अभिप्राय यह है, कि ये चार प्रकार की अविद्याएं संसार में बांधने का मूल हैं । इन्हीं चारों के नाश होने से आत्मा संसार से ऊपर हो जाता है ।

सं०—अस्मिता का स्वरूप कहते हैं-

## दृग्दर्शनशक्त्यो रेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—( दृग्-दर्शन-शक्त्योः ) द्रष्टृ शक्ति और दर्शन शक्ति का ( एकात्मता, इव ) एक स्वरूप सा होना (अस्मिता) अस्मिता ।

अन्वयार्थ—दृक् शक्ति और दर्शन शक्ति का एक स्वरूप सा होना अस्मिता है ।

भाष्य--पुरुष दृक् शक्ति (देखने वाला) है। बुद्धि दर्शन शक्ति ( दिखलाने वाली ) है। पुरुष भोक्ता है और बुद्धि भोग्य है। ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं, पर इन दोनों का एक रूप सा प्रतीत होना, भेद प्रतीत न होना, अस्मिता क्लेश है। ऐसा ही पञ्चशिखाचार्य कहते हैं-

**बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्वि- भक्तमपश्यन् कुर्यात्तत्रात्मबुद्धिं मोहेन ॥**

बुद्धि से परे जो पुरुष है उस को स्वरूप, ( सदा शुद्ध होना ) स्वभाव ( उदासीनता ) और चेतनता आदि से बुद्धि से अलग न देखता हुआ ( अर्थात् आत्मा शुद्ध, उदासीन और चेतन है और बुद्धि अशुद्ध, अनुदासीन और जड़ है यह भेद न देखता हुआ ) उस ( बुद्धि ) में भ्रान्ति से आत्मबुद्धि कर लेता है।

इसी अस्मिता को ही ब्रह्मवादी हृदयग्रन्थि कहते हैं।

(प्रश्न) अनात्मा में आत्मबुद्धि करना अविद्या कह आए हैं, अब बुद्धि जो अनात्म वस्तु है, उस में आत्मबुद्धि करना अस्मिता कहा है, इन दोनों में क्या भेद है ?

( उत्तर ) जैसे पहले प्रतिबिम्ब को चन्द्र समझता है, फिर प्रतिबिम्ब के मैला होने से चन्द्र को मैला और प्रतिबिम्ब के डोलने से चन्द्र को डोलता हुआ मानता है। इसी प्रकार पहले बुद्धि को आत्मा समझता है, यह अविद्या है। फिर उस के शान्त, घोर और मूढ होने से अपने आप को शान्त घोर और मूढ मानता है, यह अस्मिता है। अविद्या कारण है और

अस्मिता कार्य है। इतना ही भेद है। वास्तव में दोनों भ्रान्तियां हैं। इस लिये पांचों क्लेशों को पञ्चपर्वा अविद्या कहते हैं ॥

सं०—जब विवेक ज्ञान होता है, तो राग, द्वेष और अभिनिवेश दूर हो जाते हैं, इस से यह सिद्ध होता है, कि अविद्या ने जो अस्मिता उत्पन्न की है, वही अस्मिता रागादि का मूल है, इस लिये अस्मिता के पीछे राग आदि का लक्षण कहते हैं–

## सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—( सुखा-ऽनुशयी ) सुख के साथ लेटने वाला ( रागः ) राग ।

अन्वयार्थ—सुख के साथ लेटने वाला राग है ।

भाष्य—जिसने जिस वस्तु से सुख उठाया है, उस को उस सुख का स्मरण करके उस सुख में और उस के साधन में जो लोभ वा तृष्णा होती है, वही राग है । ज्यूं ही मनुष्य सुख उठाता है, त्योंही उस के मन में उस के लिये राग हो जाता है, इसलिये राग को सुख के साथ लेटने वाला कहा है।

सं०—राग का प्रतिद्वन्द्वी ( बिलमुकाबिल ) जो द्वेष है उस का लक्षण कहते हैं :—

## दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—( दुःखा-ऽनुशयी ) दुःख के साथ लेटने वाला ( द्वेषः ) द्वेष ।

अन्वयार्थ—दुःख के साथ लेटने वाला द्वेष है ।

भाष्य—जिसने जिस वस्तु से दुःख अनुभव किया है,

उस को उस का स्मरण करके उस दुःख में और उसके साधन में जो क्रोध है, वह द्वेष है।

सं०—अभिनिवेश का मूल द्वेष है, इस लिये द्वेष के अनन्तर अभिनिवेश का लक्षण करते हैं—

## स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढो ऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—( स्वरस-वाही ) स्वरस से बहने वाला=स्वभाव से बहने वाला=जो कुदरती तौर पर बह रहा है ( विदुषः,अपि) विद्वान् के लिये भी (तथा, रूढ़ः) वैसा प्रसिद्ध ( अभिनिवेशः ) अभिनिवेश।

अन्वयार्थ—( जो भय ) स्वभावतः ( हर एक प्राणी में ) बह रहा है, और विद्वान् के लिये भी वैसा ही प्रसिद्ध है (जैसे एक मूर्ख के लिये ) वह अभिनिवेश है।

भाष्य—हर एक प्राणधारी को अपनी हस्ती के लिये यह इच्छा सदा बनी रहती है, कि 'मैं न होऊँ, यह न हो, किन्तु मैं होऊँ (=बना रहूं)' अर्थात् अपनी हस्ती में उस का बड़ा भारी लगाव है, वह नहीं चाहता, कि कभी उस की हस्ती का अभाव हो, यही मरने का भय है और यही अभिनिवेश क्लेश है। यह मरने का त्रास कहीं बाहर से नहीं आता, किन्तु हर एक जन्तु में कुदरती तौर बह रहा है। एक छोटे से छोटा कृमि भी जिसने न कभी मौत को देखा, न सुना, न अनुमान किया, जब उस को भी कोई मारने वाला नज़र आता है, तो वह अपने जीवन को बचाने के लिये बेबस भागता है। यदि

यह इच्छा कुदरत ने उस के अन्दर न डालदी होती, तो जिस को अभी तक मरने का कोई भी अनुभव नहीं, वह क्यों इतना डरता। यही कुदरती भाव उस की हस्ती को स्थिर रखता है। यदि यह भाव उस में स्वभावतः न होता, तो इस दुनिया के घोर संग्राम में वह अपनी हस्ती को स्थिर न रख सकता। पर याद रक्खो, कुदरती के भी कुछ अर्थ हैं। यह बात इतना कहने से नहीं टल जाती, कि यह उस में कुदरती है। हमें बतलाना होगा, कि यह क्यों उस में है? जहाँ चेतनता है, वहां इच्छा है, पर वह इच्छा ज्ञान के पीछे आती है। जिस वस्तु को हम जानते हैं, कि सुख देती है, उस को ग्रहण करने की इच्छा होती है, और जिस से दुःख मिलने का ख्याल है, उससे बचने की इच्छा होती है। ज्ञान जब तक पहले आकर यह फैसला न दे दे, कि यह तुम्हारे सुख के लिये है और यह दुःख के लिये है, तब तक कोई इच्छा नहीं होती। और ज्ञान दो ही तरह से होता है, या तो इस समय अनुभव कर रहे हों, या पहले कभी अनुभव हुआ हो और अब वह अपने संस्कारों के कारण से जाग पड़े। अब प्रश्न यह है, कि एक छोटा सा कृमि जो इस तरह मौत से डर कर उस से बचना चाहता है, यह बचने की इच्छा है, इस से पहले यह ज्ञान होना आवश्यक है, कि मौत दुःखदायी है। इस के बिना बचने की इच्छा कभी हो नहीं सकती। इस लिये यह ज्ञान उसे अवश्य हुआ है, तभी वह डर कर भागा है। अब देखना यह है, कि यह ज्ञान उसे किस तरह हुआ। यह अब उस को नया अनुभव नहीं हो रहा, क्योंकि अभी वह मर नहीं रहा, मरने से बचने के प्रयत्न में है। अगर वह वहां खड़ा रहता और मारा जाता, तब तो उसे

अनुभव हो जाता, कि मौत दुःखदायी है। पर वह जो पहले ही भाग रहा है, इस से प्रतीत होता है, कि उस को पहले ही अनुभव हो चुका हुआ है, कि मौत दुःखदायी है, अब उसी को याद करके भाग रहा है। सो आगे बढ़ कर हमें देखना यह है, कि यह अनुभव उसे कब हुआ, इस जन्म में तो न उसने मौत को देखा, न सुना, और न ही बेचारे ने कभी अनुमान किया। फिर यह डर कहां से आया। यह डर बेशक इस जन्म का नहीं, यह उन जन्म जन्मान्तरों का है, जिन को वह पीछे भोग २ कर मरता चला आया है। इसी लिये यह डर अब उस में कुदरती तौर पर बह रहा है। स्वरस से बहने वाला, कुदरती तौर पर बहने वाला, इस से यही अभिप्राय है, कि यह डर उसने यहां आकर नहीं सीखा, किन्तु अपने पूर्व जन्म के संस्कारों से अपने साथ ही लाया है। इस से पूर्व जन्म की सिद्धि कैसी स्पष्ट प्रतीत होती है।

यह अपनी हस्ती का अभिनिवेश जैसा एक महा मूढ़ में पाया जाता है, वैसा ही एक पढ़े लिखे विद्वान् में भी है, ये पांचों क्लेश क्रम से तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र इन पांच नामों से भी कहे जाते हैं। और यही पञ्चपर्वा (पांच जोडों वाली) अविद्या कहलाती है।

**तमोमोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञकः।**
**अविद्या पञ्चपर्वैषा सांख्ययोगेषु कीर्तिता॥**

तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र यह सांख्य और योग में पञ्चपर्वा अविद्या बतलाई है। सांख्य दर्शन

(५।४१) में इस के अवान्तर भेद ६२ बतलाए हैं ॥

सं०—क्लेशों के स्वरूप दिखा दिये अब यह बतलाते हैं, कि किस तरह इस को दूर कर सकते हैं—

## ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥१०॥

शब्दार्थ—( ते ) वे=क्लेश ( प्रतिप्रसव-हेयाः ) प्रतिप्रसव से अर्थात् अपने कारण में लीन हो जाने से, त्यागने योग्य हैं ( सूक्ष्माः ) सूक्ष्म ।

अन्वयार्थ—( उन क्लेशों में से ) वे, जो सूक्ष्म हैं, वे प्रतिप्रसव से त्यागने योग्य हैं । और—

## ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—( ध्यान-हेयाः ) ध्यान से त्यागने योग्य (तद्-वृत्तयः ) उन की ( स्थूल ) वृत्तियें ।

अन्वयार्थ—उन की स्थूल वृत्तियें ध्यान से त्यागने योग्य हैं

भाष्य—क्लेश पूर्व (२ । ४) चार प्रकार के बतला आए हैं । प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार ।

उदार उस अवस्था में हैं, जब ये वर्त्तमान हैं । द्वेष जब मनुष्य में प्रकट हुआ हुआ है । यही उस की उदारावस्था है और यही स्थूल द्वेष है । प्रसुप्त, तनु, और विच्छिन्न अवस्था में द्वेष सूक्ष्मरूप से चित्त में रहता है । इसी तरह दूसरे क्लेशों के विषय में जानना चाहिये ।

क्लेश जब वर्त्तमान होते हैं, तो क्लेश में डाले रखते हैं,

इस में कोई संदेह ही नहीं । पर जो सूक्ष्म हैं, वे भी अपना अवसर पाकर क्लेश में ही डालेंगे, इस लिये हमें दोनों को दूर करना चाहिये । जब तक इन की जड़ न उखाड़ दोगे, जब फूटेंगे, क्लेश ही देंगे।

स्थूल क्लेशों के दूर करने का उपाय तो यह है, कि उन को क्रियायोग से सूक्ष्म करो और उन के दोषों को ध्यान में लाओ। तुम्हारे अन्दर द्वेष वर्त रहा है, तो क्रियायोग का अनुष्ठान करो, इस से वह सूक्ष्म हो जायगा, अब उस के दोषों को ध्यान में लाओ । ध्यान से यहां यह अभिप्राय है, कि ऐसा बार २ चिन्तन करो, कि वे दोष तुम्हें साक्षात् भासने लगें। फिर द्वेष तुम्हारे अन्दर नहीं रहेगा । आग में हाथ क्यों नहीं डालते हो ? इस लिये, कि वह तुम्हारे हाथ को जला देगी, इस में तुम्हें ज़रा संदेह नहीं। भाई द्वेष भी तुम्हें जला रहा है, इस को देखो । तुम तो अपनी तरफ़ से दूसरे को जलाने की चिन्ता में हो, इस लिये तुम्हें अपनी सुध नहीं है । पर तुम स्वयं जल रहे हो। मिटाओ इस आग को अपने अन्दर से, तुम भी बच जाओगे और दूसरा भी बच जाएगा। इस तरह ध्यान के बल से जो क्लेश जब कभी तुम्हारे अन्दर प्रवेश करता है, उस को बाहर कर दो। यह ध्यान तब तक प्रवृत्त रक्खो, जब तक वह क्लेश सूक्ष्म नहीं हो जाता, और सूक्ष्म हो कर भी जब तक उस का बीज दग्ध नहीं हो जाता, जिस से वह फिर आकर तुम्हें न दबा सके।

अब जो सूक्ष्म हैं, उन का बीजनाश करने के लिये निर्बीज समाधि है, निर्बीज समाधि द्वारा जब आत्मा अपने

स्वरूप में अविस्थत होता है, तो वह इन संसारी भोगों की पहुंच से परे हो जाता है।

चित्त तभी तक काम करता है, जब तक आत्मा अपने आप में नहीं आजाता। अब आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित है। यहां चित्त का कोई काम नहीं, इसलिये वह अपने कारण में लीन हो जाता है। यही प्रतिप्रसव है। उस के लीन होने पर उस के साथ सूक्ष्म क्लेश जड़ से उखड़ जाते हैं।

जिस तरह कपड़े का स्थूल मल आसानी से दूर हो जाता है, पर सूक्ष्म मल को दूर करने के लिये अधिक प्रयत्न और प्रबल उपाय की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार चित्त के स्थूल मल क्रियायोग और ध्यान से दूर किये जाते हैं, पर उन को जड़ से उखाड़ने के लिये निर्बीज समाधि तक पहुंचने की आवश्यकता है।

सं०– क्लेश क्यों हेय (त्याज्य) हैं? इस लिये कि वे दुःख के हेतु हैं, इस बात को दिखलाने के लिये, जिस क्रम से वे दुःख के हेतु बनते हैं, उस क्रम को वर्णन करते हैं—

## क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्म-
## वेदनीयः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—(क्लेश-मूलः) क्लेश जिस की जड़ है (कर्माऽऽशयः) कर्मों का आशय=कर्मों की वासना (दृष्टा-ऽदृष्ट-जन्म-वेदनीयः) दृष्ट और अदृष्ट जन्म में जानने योग्य=वर्तमान जन्म और अगले जन्मों में भोगने योग्य।

अन्वयार्थ—क्लेश जिस की जड़ है, वह कर्माशय दृष्ट

और अदृष्ट जन्म में भोगने योग्य होता है।

भाष्य--राग, द्वेष और मोह (अविद्या) ये तीनों क्लेश मनुष्य को पाप पुण्य में प्रवृत्त करते हैं। मूढ़ पुरुष विषय सुख के राग में फंसकर पाप कर्म करता है और विचारशील सुख की अभिलाषा में पुण्य कर्म करता है। इसी प्रकार द्वेष और मोह के अधीन भी पाप पुण्य करता है। ये पाप और पुण्य कर्म चित्त में एक ऐसा बीज बो देते हैं, जो अपने समय पर उस पुण्य और पाप का फल देता है। इसी बीज को वासना कहते हैं,इसी को मीमांसक अपूर्व और नैय्यायिक अदृष्ट बोलते हैं। यही कर्माशय है। यही धर्म और अधर्म है, जो मरने के पीछे भी मनुष्य के साथ जाता है। यह मनुष्य के अपने अधीन है, कि परलोक में संग जाने वाले इस साथी को अच्छा बनाए वा बुरा। सुखदायी बनाए, वा दुःखदायी, इसने कुछ कहना नहीं, जैसा है, वैसा ही संग चल पड़ेगा, और जैसा है वैसा ही फल देगा।

यह कर्माशय केवल परलोक में ही फल दे, ऐसा नियम नहीं, किन्तु इस का फल कभी २ यहां पर ही मिल जाता है और कभी २ परलोक में ही मिलता है और कभी २ यहां वहां दोनों जगह मिलता है। प्रायः बडे २ पुण्य कर्म हम यहां भी फलते हुए देखते हैं। यद्यपि परलोक में जाकर वह और भी अधिक फलें, पर यहां भी वह फल से शून्य नहीं रहते। इसी प्रकार उग्रपाप भी अपना स्वाद यहां ही चखा देते हैं। कुछ ही हो, यहां या वहां, किया हुआ कर्म सर्वथा भोगना ही पड़ता है।

कलयुग नहीं करयुग है यह यहां दिनको दे और रात ले।
क्या खूब सौदा नकद है इस हाथ दे उस हाथ ले॥

सारांश यह है, कि मनुष्य राग, द्वेष और मोह के अधीन हो कर शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्त होता है और उन के फलभोग के लिये वह आगे संसार चक्र में धकेला जाता है॥

सं०—इस वा उस जन्म में जो फल मिलता है, वह क्या है? इस विषय को दिखलाते हैं—

## सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।१३॥

शब्दार्थ—(सति) होते हुए (मूले) जड़के (तद्-विपाकः) उस का फल--नतीजा (जात्या-ऽऽयुर्-भोगाः) जाति, आयु और भोग।

अन्वयार्थ—जड़ के होते हुए उस का (कर्माशय का) फल जाति, आयु और भोग होता है॥

भाष्य—कर्माशय का फल क्या है? जाति, आयु और भोग। जब कोई प्राणधारी जन्म लेता है, तो वह जिस जाति में जन्म लेता है, मनुष्य जाति में, पशु जाति में, पक्षि जाति में वा स्थावर जाति में और इन में से भी जिस किसी अवान्तर जाति में। वह उस की पूर्व वासनाओं का फल है, जो उस के अन्तःकरण में पूर्वले कर्मों से सञ्चित हुई हैं। इसी प्रकार जितनी उसने आयु भोगनी है और जो सारी आयु में भोग (सुख दुःख) भोगने हैं, वे भी उस के सञ्चित कर्मों का फल हैं। जाति तो केवल पूर्व जन्म के कर्मों से ही बनती है, पर आयु और भोग पूर्व और वर्त्तमान जन्म दोनों के कर्मों का फल होते हैं। शुभ मार्ग पर चलता हुआ पुरुष अपने आयु और भोग को बढ़ा लेता है, जो उस को स्वभावतः मिलने चाहिये थे, और वही अशुभ मार्ग पर चलने वाला पुरुष घटा लेता है।

जो आयु और भोग पूर्व सञ्चित कर्मों से मिलने हैं, उन का घटाना वढ़ाना और उत्कृष्ट वा निकृष्ट बनाना अब भी उस के अधीन है, इसी लिये पूर्व कहा है, यह कर्माशय दृष्ट और अदृष्ट जन्म से भोगने योग्य है।

कर्माशय का वृक्ष तभी तक फलता है, जब तक इस की जड़ विद्यमान रहती है। जड़ के कट जाने पर यह सूख जाता है, फिर इसे फल नहीं लगता।

कर्माशय की जड़ क्या है? पूर्व कह आए हैं, क्लेश इस की जड़ हैं। जब विवेकख्याति से इस जड़ को काट दिया जाता है तो फिर जन्म नहीं होता, फिर संसार में नहीं धकेला जाता, किन्तु अपने आप में अवस्थित हो जाता है। इस लिये कहा है, कि जड़ के होते हुए उस का फल होता है। कर्माशय की उत्पत्ति में भी क्लेश मूल हैं, और उस के फलने में भी क्लेश मूल हैं। जब क्लेश मिट जाते हैं, तो सञ्चित कर्माशय जल जाता है, क्योंकि उस की जड़ कट गई है, और आगे नया उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उस की जड़ नहीं है॥

(प्रश्न) जाति आयु और भोग ये तीन कर्म के फल बतलाए हैं, इस से स्पष्ट हैं कि जन्म के प्रति कर्म कारण है। तब क्या एक कर्म ही एक जन्म के प्रति कारण होता है, वा एक कर्म अनेक जन्मों का कारण होता है?

(उत्तर) दोनों तरह से नहीं, क्योंकि एक ही जन्म में अनेक कर्म सञ्चित हो जाते हैं, वह हरएक अलग २ जन्म देने लगें, तो एक ही जन्म के कर्मों का क्षय होना कठिन है, और फिर साथ ही साथ उन जन्मों में भी अनेक २ कर्म सञ्चित

होंगे और पहिले भी इसी तरह से सञ्चित होते चले आए हैं, उन के क्रम से फल भोगना असम्भव है। और यदि ऐसा होना ही असम्भव है, तो फिर एक ही कर्म अनेक जन्म का कारण तो सुतरां ही नहीं माना जा सकता।

( प्रश्न ) तो फिर क्या सारे कर्म मिल कर एक ही जन्म दे देते हैं, उन में से कोई शेष नहीं रहता ?

( उत्तर ) यदि ऐसा हो, तो जो जन्मते ही मर गया है, उस का फिर जन्म किन कर्मों का फल होगा ?

इस लिये यह व्यवस्था इस तरह पर है, कि जो २ कर्म पुण्य पाप किया है, उन सब की वासना चित्त पर पड़ती रहती है। जब तक प्रारब्ध कर्मों का फल यह जन्म भोग रहे हैं, तब तक यह वासना दबी रहती है, और जब मरने के समय प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त हो चुकता है, तब यह प्रकट होती हैं, क्योंकि अब इनके भोग देने का अवसर है। जैसा कि बचपन से बुढ़ापे तक हमारे सारे कर्मों का चित्र एक जगह पर खींचने के लिये अलग २ रंग भर दिये जाएं, तो वह चित्र जैसा विचित्र होगा। ठीक इसी तरह हमारा चित्त इन विचित्र वासनाओं से विचित्रित हो रहा है। अब यह वासना मरने के समय जब जाग उठती हैं, तो इन में से मनुष्य की प्रबल और शिथिल रुचियों के अनुसार कुछ प्रबल वेग से जागती हैं, और कुछ ढीली सी रहती हैं। जो वेग से जागती हैं, वह जन्म आरम्भ करती हैं, और जो ढीली हैं, उनकी तीन गति होती हैं।

( १ ) या तो वह उन्हीं प्रबल वासनाओं के साथ हो लेती हैं और बीच २ में अवसर पाकर अपना फल देती रहती

इसी लिये सुखिया से सुखिया पुरुष भी दुःखों की चोट सहता है और दुखिया से दुखिया भी सुख की रेखा को अनुभव कर जाता है।

(२) या फिर वह वासना पड़ी ही रहती हैं, जब तक कि किसी न किसी जन्म में उन्हें फल देने का अवसर नहीं मिलता। जूं ही कि उन को प्रकट करने वाला कोई उन जैसा संस्कार मिल जाता है, वह अपना फल दिखला देती हैं।

(३) या फिर बिना पके ही वह वासना नाश हो जाती हैं। जैसा कि केवल शुक्ल कर्म ( ईश्वर में सच्चा प्रेम होना, वा सच्चे हृदय से स्वाध्याय करना ) के उदय से मलिन वासनाओं का नाश हो जाता है।

इस से यह नहीं समझना चाहिये, कि वह कर्म फल दिये बिना नष्ट हुआ,किन्तु वह शुभ कर्म के फल को खाकर नष्ट हुआ है, यही उसने फल दिया है। जब तुम्हारे अन्दर कोई मलिन वासना नहीं है, तो स्वाध्याय जल्दी तुम्हें अपने इष्टदेव से मिलायगा, और यदि मलिनवासनाएं विद्यमान हैं, तो देर इसी लिए होगी, कि पहले उसने यह वासना दूर करनी हैं। इतनी देर जो तुम उस प्रियतम से बिछड़े रहोगे, यही उन मलिन वासनाओं का फल हुआ है। इस लिये कोई भी कर्म फल दिये बिना नष्ट नहीं होता॥

सं०—कर्मों का फल जो जाति आयु और भोग कहे हैं, वे मनुष्य के कर्मों के अनुसार उस के लिए अच्छा बुरा फल देते हैं, यह दिखलाते हैं—

## ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥१४॥

शब्दार्थ—( ते ) वे ( ह्लाद-परिताप-फलाः ) सुख दुःख फल वाले हैं ( पुण्या-पुण्य-हेतुत्वात् ) क्योंकि उन के कारण पुण्य और पाप हैं।

भाष्य—जन्म, आयु और भोग ये हमारे कर्मों का फल हैं, इसी लिए ये हमें सुख और दुःख देते हैं । जो पुण्य कर्मों का फल हैं, वे सुख देते हैं, और जो पाप कर्मों का फल हैं वे दुःख देते हैं । इस लिए क्लेशों की तरह इनको भी परे ही हटाना चाहिये।

सं—( प्रश्न ) दुःख हमारे प्रतिकूल है और सुख अनुकूल है। इस लिए दुःख देने वाले जन्म आयु भोग दूर करने चाहियें, न कि सुख देने वाले। इस का उत्तर यह है, कि यह सुख विषय सुख है। यह उन के लिये सुख है, जिन को सुख दुःख का पूरा विवेक नहीं। विवेकियों के लिये विषयसुख भी ऐसा ही प्रतिकूल है जैसा कि स्वयं दुःख। क्योंकि—

## परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—(परिणाम-ताप-संस्कार-दुखैः) परिणाम, ताप और संस्कार के दुःखों से ( गुण-वृत्ति-विरोधात् ) गुणों के स्वभाव के विरोध से ( च ) और ( दुःखम् ) दुःख ( एव ) ही ( सर्वम् ) सब कुछ ( विवेकिनः ) विवेकी के लिए।

अन्वयार्थ—क्योंकि ( विषयसुख के भोगकाल में भी ) परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख बना रहता है,

और गुणों के स्वभाव में भी विरोध है, इस लिए विवेकी पुरुष के लिए सब कुछ ( सुख भी जो विषयजन्य है ) दुःख ही है।

भाष्य--जैसे एक बुद्धिमान् के लिए, विष से मिला हुआ अन्न, चाहे कितना ही स्वादु क्यों न हो, दुःखरूप ही है, उस को वह प्रतिकूल ही समझता है। इसी तरह विवेकी पुरुष को विषयसुख सदा प्रतिकूल ही प्रतीत होता है। क्योंकि---

परिणामदुःख–विषयसुख का परिणाम दुःख है। क्योंकि विषयों के भोगने से तृष्णा मिटती नहीं, किन्तु और भी बढ़ जाती है। ज्यों २ मनुष्य भोगों में फंसता है, त्यों २ उस का प्यार उन से बढ़ता जाता है, और इन्द्रियों को उन के भोगने में चतुराई बढ़ती जाती है।

**न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।**
**हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते॥**

( मनु० २।९४ )

विषयकामना विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती, किन्तु घी से अग्नि के सदृश और अधिक भड़कती है। अर्थात् विषयसेवी पुरुष ज्यों २ विषयों का सेवन करता है, त्यों २ उस की अभिलाषा उन्हीं विषयों में अधिक अधिकतर और अधिकतम बढ़ती चली जाती है। कभी उन से उपरति नहीं होती। पूर्ण तृप्त हो कर भी हृदय की लालसा बनी रहती है, कि हाय अब अधिक सेवन क्यों नहीं कर सकता। अब यदि भोगों में इन्द्रियों की तृप्ति हो कर ठंडक पड़ जाती, तो इस का परिणाम सुख होता, पर इस में तृप्ति का नाम नहीं, प्रत्युत

इन्द्रियों की चञ्चलता बढ़ जाती है। तृष्णा मिटती नहीं, शान्ति आती नहीं, अशान्ति बनी रहती है । और अशान्तस्य कुतः सुखम् ( गीता )

इस तरह पर यह सुख पपिणाम में बड़े दुःख के कीचड़ में फंसा देता है ।

**विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत् तदग्रेऽमृतोपमम् ।**
**परिणामे विषमिव तत् सुखं राजसं स्मृतम् ॥**

विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से जो सुख पहले अमृत के तुल्य प्रतीत होता है, ( याद रक्खो ) वह परिणाम में विष के सदृश बन जाता है यह सुख राजस है ( सात्विक नहीं )। सो यह सुख दुःखान्तर का साधन है, इस लिए सुखरूप नहीं है, यही इस में परिणामदुःखता है ।

तापदुःख–जो वस्तुएं हमारे लिए सुखदायी हैं, उन के पाने में वा भोगने में कई रुकावटें होती हैं । उन रुकावटों के लिए हमारे हृदय में द्वेष होता है, सन्ताप होता है, वह द्वेष सुख के अनुभव काल में भी बना रहता है । और इसी तरह, 'यह जो मेरे लिए सुख है, यह कभी मुझ से कट न जाए' इस भावना से उस के प्रतिकूल साधनों में सुख के अनुभव-काल में भी द्वेष बना रहता है । यह द्वेष, यह चित्त का सन्ताप सुख के अनुभवकाल में भी दूर नहीं हो सकता, यही उस में तापदुःखता है ।

संस्कारदुःख–सुख के अनुभव से चित्त पर उसके संस्कर

पड़ते हैं, उन संस्कारों से स्मरण होता है, स्मरण से उस में राग उत्पन्न होता है, राग के वश हो कर उस की प्राप्ति के लिए शुभ अशुभ कर्म करता है और जो उस में रुकावट बनते हैं, उन का अनिष्ट चिन्तन करता है। इस प्रकार पुण्य पाप में रत हुआ उन संस्कारों से आगे जन्म ग्रहण करता है, और उस जन्म में सुख दुःख अनुभव करता है, उन से फिर वैसे संस्कार उत्पन्न होकर यह जन्म जन्मान्तर का और सुख दुःख के अनुभव का दूर तक फैलता हुआ प्रवाह क्लेश का हेतु है, यह इस में संस्कार दुःखता है॥

इस प्रकार यह विषयसुख इन तीन दुःखों से वींधा हुआ है।

गुणवृत्तिविरोध—गुणों के काम वा स्वभाव का विरोध—सत्व, रजस्, तमस्, इन तीन गुणों का कार्य सुख दुःख और मोह है। यह तीनों गुण साथ रहते हैं, इन में से जो प्रधान हो कर दूसरों को दबा लेता है, उस का कार्य प्रकट हो आता है। जब सत्वगुण प्रधान होता है और रजस्, तमस्, दब जाते हैं, तब सुख प्रकट होता है, पर जैसे यहां रजस् का अत्यन्त लोप नहीं हुआ, वैसे ही उसके कार्य दुःख का भी अत्यन्त अभाव नहीं हुआ है। जैसे इस सत्व के नीचे रजस् है, वैसे ही इस सुख के नीचे दुःख है, वह नीचे है, इस लिये अप्रकट है, पर यह सुख दुःख से खाली नहीं। और तिस पर भी 'चलं हि गुण वृत्तम्' क्योंकि गुण क्षणपरिणामी हैं, इस लिये झट बदल जाने से विषयसुख अस्थिर भी है॥

यद्यपि इन दुःखों का विचार अविवेकी पुरुष नहीं कर

सकता, वह विषय सुखों में फंसा हुआ उन के परिणाम को नहीं देखता, जब उनका परिणाम भुगतना पड़ता है. तो दुःखी होता है, पर भुक्त लेता है, तो फिर भूल जाता है। पर एक विचारशील को यह सूक्ष्म दुःख उसी समय खटक जाता है। जिस तरह चनाक की तार उड़ती हुई किसी अंग पर लगे, उस का स्पर्श प्रतीत नहीं होता, पर यदि यह आँख में पड़जाय, तो अत्यन्त पीड़ा देती है। इसी तरह योगी आँख के तुल्य बन जाता है, विषय सुख में सूक्ष्म और भावी दुःख जो साधारण लोगों को ज्ञात नहीं होता, वह उसे पूरा २ चुभता है। इस लिए वह विषय सुख में कोई परित्राण न देख कर ज्ञान की ही शरण लेता है॥

सं०—संसार दुःखप्राय है, यह सिद्ध करके अब यह दिखलाते हैं, कि कौनसा दुःख हेय ( त्याज्य ) है। और साथ ही उस के क्रम से हेय हेतु और हानोपाय भी दिखलाते हैं।

## हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

पदा०—( हेयम् ) त्याज्य (दुःखम् ) दुःख (अनागतम् ) आने वाला॥

अन्वयार्थ—आने वाला दुःख हेय ( त्यागने योग्य ) है।

भाष्य—जो दुःख बीत चुका, वह भोगा गया, जो वर्त्तमान है, वह भोगा जारहा है, उस को सहकर जो आने वाला दुःख है उस को रोकने का उपाय करना चाहिये, क्योंकि उस का रोकना हमारे हाथ में है॥

सं०-संसार दुःख का कारण क्या है? सो कहते हैं---

## द्रष्टृदृश्ययोःसंयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—(द्रष्टृ-दृश्ययोः) द्रष्टा और दृश्य का (संयोगः) संयोग मेल ( हेय-हेतुः ) हेय का कारण है।

भाष्य—द्रष्टा चेतन पुरुष है। और दृश्य, बाहर के रूप रस आदि, और आध्यात्म में शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि है। पुरुष जो अपने स्वरूप को भूलकर इस दृश्य के देखने में मग्न हो रहा है, यही द्रष्टा और दृश्य का संयोग है, यही संसार दुःख का हेतु है, इस संयोग की निवृत्ति से पुरुष दृश्य से हट कर अपने स्वरूप में आ जाता है, और संसारदुःख की निवृत्ति हो जाती है ॥

सं०—द्रष्टा और दृश्य का संयोग यह कहा है। अब दृश्य का स्वरूप, उस का कार्य और प्रयोजन कहते हैं-

## प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ - (प्रकाश-क्रिया-स्थिति-शीलम् ) प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिस का स्वभाव है (भूतेन्द्रियात्यकम् ) भूत और इन्द्रिय जिस का स्वरूप है ( भोग-ऽपवर्गार्थम् ) भोग और अपवर्ग जिस का प्रयोजन हैं ( दृश्यम् ) दृश्य है।

भाष्य—सत्व, रजस् और तमस् ये तीनों गुण और इन से जो कुछ बना है, वह दृश्य है । सत्वगुणों का धर्म प्रकाश है, रजो गुण का क्रिया, कर्म, और तमोगुण का स्थिति, ठहरना, प्रकाश और क्रिया इन दोनों का रोकना। ये तीनों गुण हैं।

पाँचों महाभूत और पाँचों सूक्ष्मभूत अर्थात् पाँच तन्मात्र इन्हीं गुणों का कार्य हैं। हमारे ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अन्तः-करण ये त्रिविध इन्द्रिय इन्हीं तीनों गुणों का कार्य हैं। अर्थात् बाहर और अन्दर जो कुछ सिवाय द्रष्टा के है, वह सब दृश्य है और इन्हीं तीनों गुणों का कार्य है। इस दृश्य का प्रयोजन पुरुष के लिए भोग और अपवर्ग (मुक्ति) देना है। संसार के सुख दुःख का भोगना भोग है। और विवेकख्याति होने से संसार की निवृत्ति अपवर्ग है। अर्थात् बाहर के दृश्यों को देखना भोग है, और अपने स्वरूप को देखना अपवर्ग है। यह दो ही दर्शन हैं, इन से भिन्न कोई तीसरा दर्शन नहीं, अर्थात् या तो वह बाहर को देखे, या अपने स्वरूप को देखे इन दोनों में से एक से भोग मिलता है और दूसरे से अपवर्ग।

सं०—दृश्य का पूरा स्वरूप दिखलाने के लिए उस को अवस्थाओं का वर्णन करते हैं—

## विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिंगानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—( विशेष-ऽविशेष-लिङ्गमात्र-ऽलिङ्गानि ) विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग (गुण-पर्वाणि) गुणों के जोड़ अवस्थाएं हैं॥

भाष्य—सत्व, रजस्, और तमस् इन गुणों की चार अवस्था हैं॥

**विशेष**-पृथवी, जल, तेज, वायु, और आकाश ये पांचों स्थूल भूत और ग्यारह इन्द्रिय अर्थात् नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, त्वचा

और रसना, ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय, वाणी, हाथ, पाओं, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवाँ मन। यह सोलह विशेष कहलाते हैं। इन को विशेष इस लिये कहते हैं, कि गुणों के जो विशेष धर्म हैं सुख, दुःख और मोह, वे इन में प्रकट हैं॥

अविशेष–शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र, और गन्ध तन्मात्र ये पाँच तन्मात्र जिन से स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं। और छटा अहङ्कार जिस से इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। ये छः अविशेष हैं।

लिङ्गमात्र–महत्तत्व॥

अलिङ्ग–प्रकृति, गुणों की साम्यावस्था॥

ये चारों गुणों की अवस्था विशेष हैं। इन में से अलिङ्गावस्था प्रलय की अवस्था है। जब गुणों की अवस्था विषम नहीं होती, किन्तु सारे गुण साम्यावस्था में होते हैं, इसी को प्रकृति, प्रधान अव्यक्त और माया कहते हैं। इसे नित्य इस लिए कहते हैं, कि यह अवस्था न भोग के लिए है न अपवर्ग के लिए। यह अवस्था पुरुष के किसी प्रयोजन के लिए प्रवृत्त नहीं होती, किन्तु इस अवस्था में जाने के लिए गुणों की प्रवृत्ति इसी लिए होती है, कि यह असली अवस्था है।

दूसरी तीनों अवस्थाएं गुणों की विषमता से उत्पन्न होती हैं, वे कार्यरूप हैं और अनित्य हैं।

प्रलयावस्था को अलिङ्ग कहा है, जब उस से सृष्टि उत्पन्न होती है, तो सब से पहले महत्तत्व उत्पन्न होता है

यही लिङ्गमात्र है, फिर महत् तत्व से छः अविशेष, फिर उन से सोलह विशेष उत्पन्न होते हैं । यहाँ पहले विशेष, फिर अविशेष, फिर लिङ्गमात्र फिर अलिङ्ग इस क्रम से यह इस लिए कहे हैं, कि इनका ज्ञान इसी क्रम से हो सकता है । पहले स्थूल को देखते हैं फिर सूक्ष्म, फिर सूक्ष्मतर और फिर सूक्ष्म-तम को देखते हैं । यह सारा दृश्य है जिस का इस सूत्र में वर्णन हुआ है ।

सं०—दृश्य का स्वरूप और उस की अवस्थाएं दिखला कर अब द्रष्टा का स्वरूप दिखलाते हैं—

## द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानु-पश्यः ॥ २० ॥

पदा०—( द्रष्टा ) देखने वाला ( दृशिमात्रः ) देखने की शक्ति मात्र ( शुद्धः, अपि ) शुद्ध=निर्मल=निर्विकार हो कर भी ( प्रत्ययाऽनुपश्यः ) वृत्तियों के पीछे देखने वाला है ।

अन्वयार्थ—द्रष्टा, जो देखने की शक्ति मात्र है, वह निर्वि-कार हो कर भी वृत्तियों के पीछे देखने वाला है ।

भाष्य—द्रष्टा पुरुष देखने की शक्ति मात्र है । इस का देखना, वा उस का देखना, यह उस का स्वरूप नहीं, किन्तु दोनों जगह पर वह शक्ति, जो देखने की असल शक्ति है, जो चेतनता है, जिस के होने से इस का देखना और उस का देखना हुआ है, वह शक्ति मात्र द्रष्टा पुरुष है ।

( प्रश्न ) क्या जब हम किसी वस्तु को देखते हैं, तो उस में (द्रष्टा में) कोई तबदीली (विकार) होती है, वा नहीं ?

(उत्तर) कोई नहीं होती ।

(प्रश्न) यह हो नहीं सकता, कि जो वस्तु पहले काली न थी, वह अब काली तो हो गई, पर उस में कोई तबदीली नहीं हुई । जो पहले एक जगह पर स्थिर थी, वह अब वेग से चलने लग गई, पर उस में कोई तबदीली नहीं हुई । यह असम्भव है । जो एक अवस्था से दूसरी अवस्था में आता है, उस में अवश्य तबदीली होती है । इसी तरह आत्मा पहले कुछ नहीं देख रहा था, और अब देख रहा है, तो उस में कोई अवश्य तबदीली होनी चाहिये । तबदीली न हो, तो वह न देखने वाले से देखने वाला कैसे बनजाय ?

(उत्तर) द्रष्टा यदि न देखने वाले से देखने वाला बन जाता, तो यह तबदीली उस में मानी जाती, पर द्रष्टा तो सदा ही देखने वाला है, न देखने वाला कभी नहीं । वह चित्त की वृत्तियों का देखने वाला है, और चित्त में सदा कोई न कोई वृत्ति बनी रहती है, यहाँ तक कि निद्रा भी एक वृत्ति है। इसलिए वह न देखने वाला कभी नहीं । सदा द्रष्टा है । इसी लिए उस में कोई विकार नहीं । यह जो बाहर के दृश्यों को कभी हम देखते हैं और कभी नहीं देखते, इस से जो तबदीली होती है, वह चित्त में होती है, उसी को वृत्ति कहते हैं । पर चित्त में चाहे कुछ ही तबदीली हो, उस से पुरुष को क्या सम्बन्ध, पुरुष तो उस से अलग उस का द्रष्टा है । चित्त जैसा होगा वैसा वह उस को देख लेगा । क्योंकि वह उस के सीधा सामने है । न देखने से जो देखने में भेद हुआ है वह चित्त में हुआ है । अर्थात् चित्त पहले बाहर की वस्तु को नहीं देखता था और

वह अब देखने लगा है। आत्मा पहले भी चित्त को देखता था, अब भी चित्त को देखता है, चित्त चाहे कोई रूप बदले। इस लिए कहा है, कि वह निर्विकार हो कर भी वृत्ति के पीछे देखने वाला है। अर्थात् न देखे हुए को देखने की तबदीली चित्त में हो जाती है, यही वृत्ति का धर्म देखना है, इस तब-दीली हो जाने के पीछे आत्मा निर्विकार रहकर ही उस को देख लेता है।

सं०—द्रष्टा और दृश्य का स्वरूप कह कर दृश्य का प्रयो-जन कहते हैं :-

## तदर्थ एवदृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

अर्थ—(तदर्थः, एव) उस के लिए ही (दृश्यस्य) दृश्य का (आत्मा) स्वरूप 'है'।

भाष्य—यह सारा दृश्य द्रष्टा पुरुष के अपवर्ग के लिए है जब भोग और अपवर्ग पूर्ण हो जाते हैं, तो फिर पुरुष इस दृश्य को नहीं देखता है।

सं०—यह दृश्य मुक्त पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करके दूसरों के काम में लग जाता है, यह कहते हैं :—

## कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्य-साधारणत्वात् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(कृता-ऽर्थं प्रति) जिस का प्रयोजन सिद्ध हो गया है उस के लिए (नष्टं, अपि) नष्ट हुआ भी (अनष्टम्) नष्ट नहीं हुआ (तद-ऽन्यसाधारणत्वात्) क्योंकि वह दूसरों के साथ सांझा है।

भाष्य—यह दृश्य द्रष्टामात्र का सांझा है, इस लिए जब कोई द्रष्टा भोग और अपवर्ग को पूर्ण करके कृतार्थ हो जाता है, तो यह दृश्य उसके लिए यद्यपि अब कोई काम नहीं करता, तथापि यह नष्ट नहीं होता, क्योंकि यह दृश्य उस समय दूसरों के भोग और अपवर्ग के साधन में लग जाता है।

सं०—द्रष्टा और दृश्य का स्वरूप कह कर अब संयोग का स्वरूप कहते हैं—

## स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

अर्थ—( स्व-स्वामि-शक्त्योः ) स्वशक्ति और स्वामिशक्ति के ( स्वरूपोपलब्धि-हेतुः ) स्वरूप के साक्षात् करने का हेतु ( संयोगः ) संयोग है।

भाष्य—यह सारा दृश्य पुरुष के लिए है, इस दृश्य का फल जो भोग और अपवर्ग है, उस का भोगने वाला पुरुष है इस लिए पुरुष इस का स्वामी है, और यह दृश्य उस का स्व है, धन है, मलकीयत है। यह दृश्य जड़ है, अन्धा है, यह आप अपने आप को नहीं देख सकता। पुरुष चेतन है, वह देख सकता है। वह देखने के लिए इस के साथ संयुक्त हुआ है। इस संयोग से यह दृश्य अन्धेरे में नहीं रहा, प्रकाश में आगया है। दृश्य अदृश्य नहीं रहा, दृश्य बन गया है। अब पुरुष इस के साथ संयुक्त हुआ इस दृश्य को देखता है, और इसके साथ संयुक्त हुआ ही अन्ततः अपने स्वरूप को देखता है। सो यह जड़ चेतन का संयोग वा स्वस्वामी का संयोग इस शक्ति के

स्वरूप की उपलब्धि ( देखने ) में और स्वामिशक्ति के स्वरूप की उपलब्धि में कारण है । इस संयोग से जो दृश्य ( स्व ) के स्वरूप की उपलब्धि है, वह भोग है, और जो द्रष्टा ( स्वामी ) के स्वरूप को उपलब्धि है, वह अपवर्ग है। यह दोनों भोग और अपवर्ग इस सम्बन्ध के फल हैं, इसी को स्वस्वामिभाव, दृश्य-द्रष्टृभाव और भोग्यभोक्तृभाव सम्बन्ध कहते हैं ।

सं०—इस संयोग का कारण क्या है ?

## तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—( तस्य ) उस का ( हेतुः ) कारण (अविद्या) अविद्या ॥

अन्वयार्थ—उस ( संयोग ) का कारण अविद्या है ।

भाष्य—पुरुष इस दृश्य से अत्यन्त भिन्न है, पर इस दृश्य के साथ ऐसा संयुक्त हुआ है, कि वह अपने आप को अलग नहीं देखता, इस लिए ऐसे संयोग का हेतु अविद्या है । अविद्या अर्थात् अज्ञान, मिथ्याज्ञान, विपर्ययज्ञान, भ्रान्ति, भ्रम, अविवेक।

सं०—इस प्रकार हेय जो दुःख है, और हेय का कारण जो संयोग है, वह अपने कारण ( अविद्या ) सहित कह दिया है, अब इस के आगे हान की व्याख्या करते हैं-

## तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—( तद्-ऽभावात् ) उस के अर्थात् अविद्या के अभाव से (संयोगा-ऽभावः) संयोग का अभाव (हानम् ) हान

है (तद्) वह (दृशेः) चैतन्यस्वरूप पुरुष का ( कैवल्यम् ) कैवल्य अर्थात् मोक्ष है ।

अन्वयार्थ—उस के अभाव से संयोग का अभाव हान है और वह चितिशक्ति का कैवल्य है ॥

भाष्य—द्रष्टा पुरुष, जो स्वरूप से दृशिमात्र है, दृक्-शक्ति है, चितिशक्ति है, वह इस दृश्य से अत्यन्त भिन्न है, और वह दर्शन के लिए इस दृश्य के साथ संयुक्त हुआ है, पर वह इस तरह इस के साथ मिल गया है, कि वह अब अपने आप को इस से अलग नहीं देखता । इसी मेल में वह बाहर के दृश्य को देख रहा है, और इसी मेल में वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है, यही भूल अविद्या है । जूंही यह भूल ( अविद्या ) दूर हुई, यह मेल ( संयोग ) टूट जाता है । अब यह संयोग रह नहीं सकता, क्योंकि जिस भूल ने उसे ऐसा भुलाया था, कि वह अलग हो कर भी अपने आप को अलग नहीं जानता था, वह भूल ही अब नहीं रही, तो फिर वह संयोग अब कैसे रह सकता है, जो इसी भूल का परिणाम ( नतीजा ) था । अब यह जो संयोग का अभाव है, यही हान अर्थात् ( हेय जो दुःख है, उस का पूरी तरह छोड़ना है । जैसा कि पञ्चशिखाचार्य ने कहा है—

"तत्संयोगहेतुविवर्जनात् स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः"

बुद्धि का संयोग जो दुःख का हेतु है, उस के छोड़ने से दुःख का आत्यन्तिक प्रतीकार (इलाज़) हो जाता है, अर्थात्

दुःख के कारण की निवृत्ति होने से दुःख का बंद हो जाना हान है । अब वह चितिशक्ति जो दृश्य में मिल रही थी, उससे निखिर गई है, यही कैवल्य है, केवल हो जाना, निखर जाना, मिला न रहना है, यही चितिशक्ति की अपने स्वरूप में स्थिति है ( स्वरूप प्रतिष्ठा है ) यही मोक्ष है, बन्धन से छूटना है ॥

सं०—इस हान की प्राप्ति का उपाय क्या है ?

## विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—( विवेक-ख्यातिः ) विवेक ज्ञान ( अविप्लवा ) अडोल-डोलने से रहित-संशय विपर्यय से रहित-निर्मल (हानो-पायः ) हान का उपाय ।

अन्वयार्थ--निर्मल विवेकज्ञान हान का उपाय है।

भाष्य—यह शरीर, इन्द्रिय, मन, और बुद्धि मुझ से भिन्न हैं और मैं इन से भिन्न हूं, इस ज्ञान का नाम विवेकज्ञान है । यह ज्ञान हान का अर्थात् तीनों प्रकार के दुःखों के दूर करने का उपाय है । यद्यपि यह ज्ञान कि मैं देह आदि से अलग हूं, यह आचार्य्य के उपदेश से भी होता है, शास्त्र को देख कर भी होता है, और अनुमान से भी होता है । पर ऐसा ज्ञान हान का उपाय नहीं, क्योंकि यह ज्ञान टिका नहीं रहता, डोल जाता है । शास्त्र से जानता हो, और अनुमान से भी मानता हो, कि मैं देह नहीं, उस से अलग हूं, पर जब उस के देह पर ज़रासी भी चोट आती है, तो झट पता लग जाता है । कि वह देह को ही अपना आप समझता है । इसलिए ऐसा विवेकज्ञान हान का उपाय नहीं, हान का उपाय वह वियेकज्ञान है, जो कभी

न डोले। ऐसा विवेकज्ञान तभी होता है, जब समाधि द्वारा आत्मा को साक्षात् कर लिया जाता है। जब इस तरह साक्षात् आत्मा को अलग देख लिया जाता है, तब सारा भ्रम (मिथ्या ज्ञान) वासना सहित दूर हो जाता है। यह विवेकज्ञान कभी नहीं डोलता। इस से मिथ्याज्ञान का बीज जल जाता है और वह फिर उत्पन्न नहीं हो सकता। यह मोक्ष का मार्ग हान का असली उपाय है।

सं०—विवेकख्याति में जिस की दृढ़ स्थिति हो गई है उस की जैसी प्रज्ञा (बुद्धि) होती है, उसे दिखलाते हैं—

## तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—(तस्य) उस की (सप्त-धा) सात प्रकार की (प्रान्तभूमिः) सब से ऊंची अवस्था वाली (प्रज्ञा) प्रज्ञा-बुद्धि।

अन्वयार्थ—उस की सात प्रकार की सब से ऊंची अवस्था वाली प्रज्ञा होती है।

भाष्य—जिस योगी को निर्मल विवेकख्याति प्राप्त हो गई है, अब उसके चित्त में कोई और प्रतीति उत्पन्न नहीं होती, किन्तु यही सात प्रकार की सब से ऊंची अवस्था की प्रज्ञा उस विवेकी की होती है, कि—

१—जो कुछ जानना था, वह जान लिया है, अब कुछ जानने योग्य बाकी नहीं रहा * ॥

---

* जितना गुणमय दृश्य है (देखो पूर्व १८। १९ सूत्र) यह सारा परिणाम, ताप, और संस्कार दुःखों से और गुणवृत्तिविरोध से दुःख रूप ही है, इसलिये यह हेय है, यह मैंने जान लिया है। इस

२—जो दूर करना था, * वह दूर कर दिया है, अब कुछ दूर करने योग्य बाकी नहीं रहा।

३—जो साक्षात् करना था, वह साक्षात् कर लिया है † अब कुछ साक्षात् करने योग्य बाकी नहीं रहा।

४—जो बनाना था ‡ वह बनालिया है, अब कुछ बनाने योग्य बाकी नहीं रहा §।

५—चित्त ने अपना अधिकार (भोग और अपवर्ग का देना) पूरा कर दिया है, अब उस का कोई अधिकार बाकी नहीं रहा।

६—चित्त के बनाने वाले गुण अब इस तरह अपने कारण में लय होने के अभिमुख जारहे हैं, जैसे पर्वत के शिखर से

---

प्रज्ञा में सब से ऊंचापन यही है, कि अब कुछ जानने योग्य बाकी नहीं रहा। इसीलिए यह शब्द कहे गये हैं। और आगे भी ऐसा ही जानना चाहिये।

* द्रष्टा और दृश्य का संयोग जो हेयहेतु है।

† सम्प्रज्ञातावस्था में ही मैंने प्रत्यक्ष से निश्चय कर लिया है, कि निरोध समाधि से हान होता है।

‡ निर्मल विवेकख्याति जो हानोपाय है।

§ यह पहली चार प्रकार की प्रज्ञा की कार्यविमुक्ति कहलाती है, अर्थात् कार्य (कर्तव्य) से विमुक्ति (खलासी) पाना। अब कोई कार्य उस का शेष नहीं रहता। अगली तीन प्रकार की प्रज्ञा की चित्त विमुक्ति कहलाती है अर्थात् चित्त से विमुक्ति पाना। कार्यविमुक्ति अपने प्रयत्न से साधनी चाहिये, दूसरी अपने आप सिद्ध हो जाती है।

गिरे हुए पत्थर कहीं ठहराव न पाकर नीचे से नीचे चले जाते हैं। अब इन की फिर उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि अब इन का प्रयोजन शेष नहीं रहा।

७—इस अवस्था में गुणों के सम्बन्ध से परे पहुंचा हुआ, स्वरूपमात्रज्योति पुरुष अमल है केवली है।

इस सात प्रकार की प्रान्तभूमिप्रज्ञा को अनुभव करता हुआ पुरुष कुशल, जीवन्मुक्त, कहा जाता है। चित्त के लीन हो जाने पर भी कुशल वा विदेहमुक्त कहलाता है।

सं०—निर्मल विवेकख्याति जो हान का उपाय है, उस की उत्पत्ति के क्या साधन हैं, अब यह बतलाते हैं—

## योगांगाऽनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा-विवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—( योगा-ऽङ्गा-ऽनुष्ठानात् ) योग के अङ्गों के अनुष्ठान से ( अशुद्धि-क्षये ) अशुद्धि के क्षय होने पर ( ज्ञान-दीप्तिः ) ज्ञान की दीप्ति-चमक ( आ-विवेकख्यातेः ) विवेक ख्याति पर्यन्त।

अन्वयार्थ—योग के अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि के क्षय होने पर ज्ञान की दीप्ति विवेकख्याति पर्यन्त बढ़ती जाती है।

भाष्य—योग के आठ अंग जो आगे कहने हैं, उन के अनुष्ठान में जैसे २ पुरुष आगे बढ़ता है, वैसे २ उस के चित्त की अशुद्धि (मल) उखड़ती जाती है, और ज्यों २ चित्त निर्मल होता जाता है, त्यों २ ज्ञान की चमक बढ़ती जाती है, जब तक कि प्रकृति और पुरुष का विवेकज्ञान नहीं होता, योग के

**अंगों का अनुष्ठान अशुद्धि के वियोग का कारण है और विवेक ख्याति की प्राप्ति का कारण है* ।**

---

* कारण नौ प्रकार के हैं—

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः ।
वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् ॥

कारण नौ प्रकार का माना गया है- उत्पत्तिकारण, स्थितिकारण, अभिव्यक्तिकारण, विकारकारण, प्रत्ययकारण, प्राप्तिकारण, वियोगकारण, अन्यत्वकारण, धृतिकारण ।

उत्पत्तिकारण, जैसे बीज वृक्ष का, वा मन विज्ञान का ।

स्थितिकारण—जैसे आहार शरीर की स्थिति का वा पुरुषार्थ मन की स्थिति का, क्योंकि अस्मिता से उत्पन्न हुआ मन तबतक बना रहता है, जब तक भोग और अपवर्ग इस दो प्रकार के पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं कर देता ।

अभिव्यक्तिकारण—जैसे प्रकाश रूप की अभिव्यक्ति ( प्रकटता ) का कारण है, वा रूप ज्ञान पौरुषेय बोध की अभिव्यक्ति का कारण है।

विकार कारण—जैसे अग्नि से पक कर चावल बदल ( गल ) जाते हैं, सो अग्नि उन का विकार कारण है, वा मन का दूसरे विषय में लग जाना मन के विकार का कारण है ।

प्रत्ययकारण—जैसे धुएँ का देखना अग्नि की प्रतीति का कारण है।

प्राप्तिकारण—जैसे धर्म सुख की प्राप्ति का कारण है, वा योग के अंगों का अनुष्ठान विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है ।

वियोगकारण—जैसे कुल्हाड़ा लकड़ी के टुकड़ों के वियोग का कारण है, वा योग के अंगों का अनुष्ठान अशुद्धि के वियोग का कारण है ।

अन्यत्वकारण—जैसे सुनार सोने के कुण्डल को दूसरी वस्तु अर्थात्

सं०—योग के अंग बतलाते हैं—

## यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा ध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि ॥२९॥

अर्थ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि (यह) आठ (योग के) अंग हैं।

भाष्य—इन में से कुछ तो समाधि के साक्षात् उपकारक हैं, जैसे धारणा, ध्यान, कुछ रुकावटों के दूर करने वाले हैं जैसे यम, नियम, और कुछ अगले २ में उपकारक हैं, जैसे आसन के जीतने पर प्राणायाम की स्थिरता होती है और प्राणायाम की स्थिरता से प्रत्याहार सिद्ध होता है।

अभ्यास, वैराग्य, श्रद्धा, वीर्य आदि भी अर्थसिद्ध हो जाने से इन्हीं के अन्तर्गत हो जाते हैं। तप और स्वाध्याय का अनुष्ठान बिना श्रद्धा के और वीर्य के नहीं हो सकता, तथा धारणा ध्यान और समाधि बिना अभ्यास और वैराग्य के नहीं हो सकते, इसलिए ये साधन भी इन्हीं आठों में अन्तर्भूत जानने चाहियें।

सं०—यम नियम आदि अंग कहे हैं, उन में से—

---

कड़ा बना देने का कारण है वा जैसे रूपवती स्त्री का देखना एक ही है, पर वह देखना पति के सुख, सपत्नियों के दुःख, बेगाने पुरुष के मोह और तत्वज्ञानी की उदासीनता का कारण होता है॥

धृतिकारण-जैसे शरीर इन्द्रियों के धारने का कारण है और इन्द्रिय शरीर के धारने का कारण हैं, वा मनुष्य पशु पक्षी ओषधि वनस्पति एक दूसरे के धारने के कारण हैं ( व्यास भाष्य )॥

## अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।३०

अर्थ-(अहिंसा-सत्या-ऽस्तेय-ब्रह्मचर्या-ऽपरिग्रहाः) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह ( यमाः ) यम हैं।

भाष्य-अहिंसा-द्रोह करना, पीड़ा पहुंचाना वा मारना हिंसा है इस से सर्वथा सर्वदा बचे रहना अहिंसा है।

सत्य-सचाई-जो मन में है, वही बाणी में हो । जैसा सुना देखा वा अनुमान किया है, निर्भय हो कर ठीक वैसा ही कहे, कहने में किसी प्रकार की बनावट वा बहाना न हो।

अस्तेय-चोरी का त्याग-जिस वस्तु पर किसी दूसरे का स्वत्व ( हक ) है उस को न उठाए, न ले, न चाहे।

ब्रह्मचर्य-पूरा जितेन्द्रिय हो, काम की वासना को न उठने दे॥

अपरिग्रह-परिग्रह=मलकीयत, इससे अलग रहे, किसी पर अपनी मलकीयत न जमाए।

इन में से अहिंसा मुखिया है, और दूसरे सारे उसी के सहायक हैं, जैसा कि पञ्चशिखाचार्य ने कहा है—

'सखल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते, तथा तथा प्रमादकृतेभ्योऽहिंसा-निदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति'

" यह ब्राह्मण ज्यों २ बहुत से व्रतों को धारण करता है, त्यों २ वह प्रमादकृत जो हिंसा के बीज हैं, उन से बचता हुआ, उसी अहिंसा को शुद्धरूप ( निर्मल, साफ़ ) बनाता है, असत्य और चोरी आदि से दूसरों को हानि और पीड़ा पहुंचती है, इस लिए यदि सत्य आदि का अनुष्ठान न किया जाए तो अहिंसा असत्य आदि से मलिन हो जाए।

सं०—यमों की सब से ऊंची अवस्था यह है—

## जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—( जाति-देश-काल-समया-ऽनवच्छिन्नाः ) जाति, देश, काल और संकेत की हद्द से रहित ( सार्वभौमाः ) सब अवस्थाओं में होने वाले ( महाव्रतम् ) महाव्रत हैं।

भाष्य—यमों का सर्वत्र सर्वदा सर्वथा पालन करने में महती कठिनता देखकर उस की एक हद्द ठहरा ली जाती है, और वह हद्द जाति, देश, काल, वा संकेत की होती है। जो अहिंसा के नियम को इस हद्द में रख लेता है, कि वह अपनी जाति में से किसी का द्रोह नहीं करेगा, उस की अहिंसा जाति की हद्द में है, वा जैसे मछलियां पकड़ने वाले की मछलियों में ही हिंसा होती है, दूसरी जाति के जन्तुओं में अहिंसा रहती है, यह अहिंसा जाति की हद्द में है। इसी प्रकार किसी पवित्र स्थान में वा इस देश में,हिंसा नहीं करूंगा, यह अहिंसा देशकी हद्द में है । इस २ दिन हिंसा नहीं करूंगा, वा इस २ दिन के सिवाय हिंसा नहीं करूंगा यह अहिंसा काल की हद्द में है। और किसी बड़े भारी प्रयोजन को लक्ष्य में रख कर, यह

व्रत धारना कि इस प्रयोजन के सिवाय कभी हिंसा नहीं करूंगा, यह अहिंसा संकेत की हद्द में है । इसी प्रकार की हद्दें सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के विषय में भी की जाती हैं। जैसा किसी के प्राणों की रक्षा होती हो, तो ऐसे अवसर में असत्य बोलने के सिवाय वा हंसी में असत्य बोलने के सिवाय कभी असत्य नहीं बोलूंगा । दुर्भिक्ष के बिना कभी चोरी नहीं करूंगा इत्यादि। इस तरह ये यम एक हद्द के अन्दर भी व्रत के तौर पर पालन किये जाते हैं । पर जब योगी इन यमों के पालन में सारी हद्दें तोड़ कर इन को सार्वभौम बना देता है। जब उस का अहिंसा आदि धर्म सारी जातियों के लिये है, सारे देशों के लिये है, सारे कालों के लिये है, और हर एक अवसर के लिये है, चाहे कुछ ही हो, वह इन के पालन में एक तनिक भी त्रुटि नहीं करता, तब यह महाव्रत कहलाते हैं* ॥

---

* यह याद रखना चाहिये, कि यह सारे महाव्रत उन्हीं के लिये हैं, जो दुनिया को बिलकुल छोड़ चुके हैं । इस के अनुसार एक शूरवीर क्षत्रिय का यह नियम धारण करना कि मैं युद्ध के सिवाय किसी को नहीं मारूंगा ? यह अहिंसा भी एक हद में है । अतएव यह महाव्रत नहीं है । सो संकेत की हद का एक उदाहरण व्यासभाष्य में यही दिखलाया है "यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा नान्यत्रेति" अर्थात् जैसी क्षत्रियों की युद्ध में ही हिंसा है अन्यत्र नहीं । यहां क्षत्रिय के लिये शत्रुओं का मारना भी महाव्रत से नीचे रक्खा है, जब कि वह धर्मशास्त्रों में क्षत्रिय का बड़ा ऊंचा धर्म बतलाया है । और ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी इस को बड़ा ऊंचा कर्म बतलाया है—

## शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

अर्थ—( शौच-सन्तोष-तपःस्वाध्याये-श्वरप्रणिधानानि ) शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान (नियमाः) नियम हैं।

भाष्य—इन में से **शौच** दो प्रकार का है बाह्य और आभ्यन्तर। मिट्टी और पानी आदि से शरीर, वस्त्र और स्थान को शुद्ध रखना और शुद्ध आहार आदि का सेवन, बाहर की शुद्धि है। और मैत्री आदि की भावना (१। ३३) से मद, मान, ईर्ष्या असूया आदि चित्त की मलों का धोना अन्दर की शुद्धि है। **सन्तोष** जो कुछ अपने पास है, उसी में सन्तुष्ट रहना-रूखी सूखी खाय के ठंडा पानी पी। देख बेगानी चोपड़ी मत तर-

---

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥

जो संग्रामों में लड़ने वाले हैं, जो सूरमे शरीर के त्यागने वाले ( शहीद ) हैं, और वह जिन्होंने कि सहस्रों दक्षिणाएं दी हैं, ( हे इस लोक से परलोक में जाने वाले ) तू उन को भी प्राप्त हो। ( देखो-यही मन्त्र संस्कार विधि के अन्त्येष्टि मन्त्रों में ) इस मन्त्र में सन्मुख लड़ने वाले योद्धा शूरबीरों का भविष्यत् बड़ा उज्ज्वल बतलाया गया है। इसलिये यह महाव्रत उस के लिये हैं, जो दुनियां को छोड़ चुका है, और योगी होने का दावा भी वही कर सकता है।

साई जी । तप—भूख, प्यास, सरदी, गर्मी, आदि द्वन्द्वों का सहन करना । स्वाध्याय—मोक्ष शास्त्रों का अध्ययन और ओंकार का जप । ईश्वरप्रणिधान—सारे कर्मों का ईश्वर में समर्पण करना ॥

पहले पांच यम हैं । अर्थात् अपने अन्दर के भाव (जज़बे) रोकने के साधन हैं । और यह पांच उन के साथ बाहर के नियम हैं ॥

**यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।**
**यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन ॥**

(मनु०)

बुद्धिमान् को चाहिये कि यमों का लगातार सेवन करे, केवल नियमों का नहीं । क्योंकि जो यमों का पालन न करता हुआ केवल नियमों का सेवन करता है, वह गिर जाता है ।

सं०—अब यमनिममों के पालन में यदि विघ्न उपस्थित हों, तो उन का प्रतीकार ( इलाज ) बतलाते हैं-

## वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—(वितर्क-बाधने) वितर्कों से बाधा होने पर (प्रति-पक्ष-भावनम् ) प्रतिपक्ष का चिन्तन करना चाहिये ॥

भाष्य—यम और नियमों के विरुद्ध जो अधर्म हैं, वह वितर्क कहलाते हैं अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, ब्रह्मचर्य्य का अभाव और परिग्रह । अशौच, असन्तोष, तप का अभाव, स्वाध्याय

का अभाव और ईश्वर से विमुखता । किसी दुर्बलता से जब यह वितर्क उत्पन्न होने लगें, जैसे किसी ने अपकार किया है, तो उस के लिये मन में यह भाव उदय हो, कि मैं इसे मार डालूंगा, इस को हानि पहुंचाने के लिये झूठ भी बोलूंगा। इस का धन चुरा लूंगा, इस की स्त्री का धर्म भंग करूंगा, इस की संपत्ति का स्वामी बन बैठूंगा। और इसी तरह शौच सन्तोष आदि सब कुछ छोड़ कर भी जब उस से बदला लेने को मन चाहे। इस प्रकार कुमार्ग में झुकाने वाले इन वितर्कों का प्रचण्ड ज्वर जब उसे बाधा देने लगे, तब वह इस के प्रतिपक्षों का चिन्तन करे। कि संसार की घोर अग्नि में सन्तप्त हो हो कर उस से बचने के लिये अब मैंने सब भूतों को अभय दान देकर योगधर्म की शरण ली है। अब मैं इन अहिंसा आदि को, जिन को कि मैं छोड़ चुका हूं, फिर पकड़ने से क्या कुत्ते की तरह अपनी कै को चाटूंगा, धिक्कार है मुझे, यदि मैं फिर उसी गढ़े में गिरूं। इन वितर्कों का फल मैंने आगे सिवाय दुःख और अज्ञान के क्या देखा है, और अब क्या इस के सिवाय कुछ और मिलेगा। इस प्रकार के विचार से वह संभल जाता है, और दूसरे से हानि उठा कर भी उस की हानि नहीं चाहता है।

सं०—प्रतिपक्ष चिन्तन का स्वरूप कहने की इच्छा से वितर्कों का स्वरूप, प्रकार, कारण, धर्म और फल कहते हैं—

**वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥**

शब्दार्थ—( वितर्काः ) वितर्क ( हिंसा-ऽऽदयः ) हिंसा आदि ( कृत-कारिता-ऽनुमोदिताः ) किये हुए, कराए हुए, और अनुमोदन किये हुए ( लोभ-क्रोध-मोह-पूर्वकाः ) लोभ क्रोध और मोह जिन का कारण हैं ( मृदु-मध्या-ऽधिमात्राः ) मृदु, मध्य और तीव्र ( दुःखाऽज्ञाना-ऽनन्त-फलाः ) दुःख और अज्ञान का अन्त न होना जिन का फल है ( इति ) यह (प्रतिपक्ष-भावनम् ) प्रतिपक्ष का चिन्तन है।

अन्वयार्थ—( यमनियमों के विरुद्ध जो ) हिंसा ( और झूठ बोलना ) आदि ( पाप ) हैं, उन्हें वितर्क कहते हैं। ( उन के तीन भेद हैं ) किए हुए, कराए हुए, और अनुमोदन किए हुए। उनके कारण लोभ क्रोध और मोह हैं। उनके मृदु, मध्य और तीव्र ( यह तीन धर्म हैं ) इन ( सब ) का फल दुःख और अज्ञान का अनन्त होना है, इस प्रकार प्रतिपक्ष का चिन्तन करे।

भाष्य—इन में से पहले हिंसा तीन प्रकार की है, १-कृत-जो अपने हाथों की, २-कारित-जो किसी से करवाई, ३-अनुमोदित-जो हिंसा किसी दूसरे ने की है, पर आप उस का अनुमोदन (ताईद) किया हो कि शाबाश, तुमने अच्छा किया है। इस के फिर तीन भेद हैं, १-लोभ से-जैसे मांस के लिये वा चमड़े के लिये हिंसा की हो, २-क्रोध से-इसने मेरा अपकार किया है, इस क्रोध से उसकी हिंसा की हो, ३-मोह से-इस के मारने से मुझे धर्म होगा इस विचार से की हो, इस प्रकार हिंसा ३×३=९ प्रकार की हुई। फिर उस नौ प्रकार की हिंसा में से हर एक के तीन २ भेद हैं, १-मृदु (नर्म) हिंसा, २-मध्य हिंसा, ३-बड़ी तीव्र हिंसा। यह हिंसा में मृदुता, मध्यता,

और तीव्रता क्रोध आदि के मृदु, मध्य और तीव्र होने से होती है। इस प्रकार ९×३=२७ प्रकार की हिंसा हुई। इसके आगे भाष्य में मृदु, मध्य और तीव्र के फिर तीन भेद दिखलाए हैं अर्थात् मृदु मृदु, मृदुमध्य, मृदुतीव्र, मध्यमृदु, मध्यमध्य, मध्य-तीव्र, तीव्रमृदु, तीव्रमध्य, और तीव्रतीव्र, इस प्रकार २७×३=८१ प्रकार की हिंसा हुई। फिर इन में से कहीं इन भेदों के अलग २ रहने से और कहीं मेल हो जाने से कई प्रकार की हिंसा हो जाती है। इसी प्रकार झूठ आदि के विषय में जानना चाहिये। जब यह हिंसा आदि वितर्क योगी को उपस्थित हों, तो उसे ऐसा ध्यान करना चाहिये, कि यह हिंसा आदि पाप कर्म हैं, और पाप का फल दुःख और अज्ञान है, मैं जब तक इन में फंसा रहूंगा, मेरे दुःख और अज्ञान का कभी अन्त नहीं होगा, सो मुझे सर्वथा इन से बचना चाहिये, इसी में मेरा कल्याण है। इस प्रकार प्रतिपक्ष के चिन्तन से वह इन से अपने ताइँ बचा लेता है, और उस के यमनियम निर्विघ्न पूरे होते हैं।

सं०—जब यम और नियम सिद्ध हो जाते हैं, तो उन के यह चिन्ह होते हैं, सो क्रम से बतलाते हैं—

## अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥३५॥

अर्थ—( अहिंसा-प्रतिष्ठायाम् ) अहिंसा में दृढ़ स्थिति होने पर ( तत्-सन्निधौ ) उस के निकट ( वैर-त्यागः ) वैर का त्याग हो जाता है "।

भाष्य—जब योगी अहिंसा धर्म में दृढ़ (अविचल) स्थिति पालेता है, तो उस के निकट आकर दूसरे लोग वा प्राणी भी

उस के चित्त के असर से उसी रंग में रंगे हुए अपना बैर छोड़ देते हैं ।

## सत्यप्रतिष्ठायांक्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—(सत्य-प्रतिष्ठायाम् ) सत्य में दृढ़ स्थिति होने पर ( क्रिया-फला-ऽऽश्रयत्वम् ) क्रिया और फल का आश्रय 'बनता है'।

भाष्य— जब वह सत्य धर्म में दृढ़ स्थिति पालेता है, तो वह जो कुछ कहता है पूरा हो जाता है । उसका यह कहना कि 'तू धर्मात्मा बनजा' एक पापी को पाप से फेर कर धर्म में लगा देता है * । और उस का यह कहना 'तू सुखी रह' एक दुखिया जीवन को भी सुखिया बना देता है † । उस की वाणी अमोघ ( न निष्फल ) होती है ॥

## अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—( अस्तेय-प्रतिष्ठायाम् ) चोरी के त्याग में दृढ़ स्थिति होने पर ( सर्व-रत्नो-पस्थानम् ) सारे रत्नों की उपस्थिति, 'होती है' ॥

भाष्य—जब चोरी के त्याग में उस की दृढ़ स्थिति होती है, तो सारी दिशाओं के रत्न उस के पास आते हैं ( व्यास भाष्य ) ।

## ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

---

* यह उस की वाणी में क्रिया की आश्रयता है ।

† यह फल की आश्रयता है ।

अर्थ—( ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायाम् ) ब्रह्मचर्य में दृढ़ स्थिति होने पर ( वीर्य-लाभः ) वीर्य लाभ 'होता है'।

भाष्य—जब वह ब्रह्मचर्य्य में दृढ़ स्थिति पालेता है, तो उस के शरीर, इन्द्रिय और मन में शक्ति भरजाती है, वह समर्थ होता है, जो चाहता है, कर लेता है, वह समर्थ होता है शिष्यों में अपना ज्ञान डालने के, और समर्थ होता है डूबतों को बाहर निकालने के, क्योंकि उस की बाणी में बल है, और उस के अन्तःकरण में बल है॥

## अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः ॥३९॥

अर्थ—( अपरिग्रह-स्थैर्ये ) अपरिग्रह की स्थिरता में ( जन्मकथन्ता-सम्बोधः ) जन्म के कैसेपन का सम्बोध * हो जाता है॥

भाष्य—जब उस की अपरिग्रह धर्म में अटल स्थिति हो जाती है, तो उसे अपने भूत, वर्त्तमान और भावी जन्म का पता लग जाता है। मैं पूर्व जन्म में कौन था, और कैसे था, यह भूला हुआ स्मरण आ जाता है, और अब यह जन्म क्योंकर हुआ, आगे हम क्या होंगे और क्योंकर होंगे, यह सब साक्षात् हो जाता है। क्योंकि केवल भोग के साधनों का अपरिग्रह ही अपरिग्रह नहीं, किन्तु शरीर में ममता का त्याग भी अपरिग्रह है। जब शरीर में भी ममता उठजाती है, तो उस की ओर राग का छूटना उस का तत्व (असलीयत) जानने का हेतु बन जाता है। यह यमों की स्थिरता में सिद्धियां होती है।

---

* भूले हुए का याद आजाना वा साक्षात्कार॥

सं—अब नियमों की सिद्धियां कहते हैं—

## शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

अर्थ—( शौचात् ) सौच से ( स्वाङ्ग-जुगुप्सा ) अपने अंगों में घृणा, और ( परैः ) दूसरों से ( असंसर्गः ) संसर्ग का अभाव 'होता है' ॥

भाष्य—जब योगी अपने अंगों को बार २ शोधन करने से भी उसे बार २ अशुद्ध पाता है, तो इस से शरीर से उस का लगाव छूट जाता है, और इसी हेतु से दूसरों से भी उस का संसर्ग छूट जाता है । वह अशुद्धियों से परे रहना चाहता हुआ, शुद्ध होने के, और सब से अलग रहना चाहता हुआ केवली होने के योग्य बनता है । यह बाह्य शुद्धि का फल है ।

## सत्त्व शुद्धि सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्म दर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

अर्थ—( सत्व शुद्धि-सौमनस्यै-काग्र्ये-न्द्रियजया-ऽऽत्म-दर्शन योग्यत्वानि, च ) और अन्तःकरण की शुद्धि, मन की स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रियों की जीत और आत्मदर्शन की योग्यता 'प्राप्त होती है'।

भाष्य—चित्त की मलों के धो डालने से चित्त निर्मल हो कर स्वच्छ होता है, स्वच्छ होने पर वह एकाग्र होता है, तब मन के जीते जाने से मन के अधीन इन्द्रियाँ भी जीती जाती हैं, तब योगी आत्मा के दर्शन के योग्य बन जाता है । यह अभ्यन्तर शौच का फल है ।

## सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

अर्थ—( सन्तोषात् ) सन्तोष से ( अनुत्तम-सुख-लाभः) उत्तम से उत्तम * सुख का लाभ होता है।

भाष्य—जब सन्तोष में पूरी स्थिरता होती है, तो अपने अन्दर से ही इस प्रकार का सुख प्रकट होता है, कि बाह्य विषय-सुख उसके सवें हिस्से की भी तुलना भी नहीं कर सकता।

**सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्**
**सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥**

( मनु० ४ । १२ )

जो सुख का अर्थी है उसे चाहिये कि परम सन्तोष का सहारा लेकर अपने आप को संयम में रक्खे, क्योंकि सन्तोष सुख की जड़ है, और असन्तोष दुःख की जड़ है।

## कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—( काये-न्द्रिय-सिद्धिः ) शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि ( अशुद्धि-क्षयात् ) अशुद्धि के क्षय से ( तपसः ) तप से ॥

अन्वयार्थ—तप से अशुद्धि के क्षय होने से शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है।

भाष्य—तप के अनुष्ठान से शरीर और इन्द्रियों के मल दूर हो कर शरीर स्वस्थ, नीरोग, लघु और दक्ष ( फुर्तीला )

---

* अक्षरार्थ-अनुत्तम, जिस से परे उत्तम नहीं।

होता है * और इन्द्रियों में दूर तक देखने आदि की शक्ति हो जाती है ॥

## स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः ॥ ४४ ॥

अर्थ—(स्वाध्यायात्) स्वाध्याय से (इष्टदेवता-संप्रयोगः) इष्ट देवता का सम्बन्ध-मेल-साक्षात् 'होता है'।

भाष्य—स्वाध्याय से इष्ट देवता का साक्षात् होता है † ।

## समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

अर्थ—(समाधि-सिद्धिः) समाधि की सिद्धि (ईश्वर-प्रणिधानात्) ईश्वर प्रणिधान से 'होती है'।

भाष्य—जब पुरुष सम्पूर्ण कर्म ईश्वरार्पण बुद्धि से करता है, तो उन के अनुग्रह से उस के सारे विघ्न दूर हो कर जल्दी ही समाधि की सिद्धि होती है ।

सं—सिद्धियों समेत यम और नियमों को कह कर अब क्रमप्राप्त आसन का लक्षण करते हैं—

## स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—(स्थिर-सुखम्) जो निश्चल हुआ सुखदायी हो, 'वह' (आसनम्) आसन 'है'।

भाष्य—योग साधन के समय कुशा वा मृगचर्म आदि जो बैठने के लिये नीचे बिछाया जाता है, उसे भी आसन कहते

---

* शरीर की सिद्धि अणिमा आदि (व्यास भाष्य)

† देवता, ऋषि, और सिद्ध स्वाध्याय शील के दर्शन को जाते हैं, और इसके कार्य में सहायी होते हैं (व्यास भाष्य)

हैं, वह भी ऐसा होना चाहिये, जिस पर सुख से बैठ सकें। दूसरा बैठने की रीति को आसन कहते हैं, उस का यह लक्षण है, कि ऐसी रीति से बैठना चाहिये, जिस रीति से आराम से देर तक निश्चल बैठे रह सकें।

आसन कई प्रकार के हैं-पथली ( चौकड़ी ) लगाने में जब दाएं ऊरु ( जांघ, रान ) पर बायाँ पैर और बाएं ऊरु पर दायाँ पैर रखकर भुजाओं को पीठ के पीछे से घुमाकर दाएं हाथ से दाएं पैर के अंगूठे को और बाएं से बाएं अंगूठे को पकड़ें, तो वह पद्मासन कहलाता है। एक पाओं भूतलपर और दूसरा जानु के ऊपर हो तो यह वीरासन है। दोनों पाओं मिलाकर सीवन के पास रखकर उनके ऊपर दोनों हाथ मिला कर रखने से भद्रासन। बाएं पाओं को दाएं जानु के अन्दर और दाएं पाओं को बाएं जानु के अन्दर दबाकर बैठने से स्वस्तिकासन। दोनों पाओं खड़े मिलाकर ऊरु और जंघा को दण्ड की तरह लम्बा करने से दण्डासन। चौगान पर दोनों भुजाएं रखकर बैठने से सोपाश्रय होता है। जानु पर भुजा फैलाकर सोना पर्यंक। दोनों जानुओं के ऊपर हाथ रखकर छाती ग्रीवा और सिर को सीधा रखकर बैठना समसंस्थान है। और क्रौञ्चनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन यह क्रौंच आदि के बैठने की रीति पर बैठने का नाम है। यह सब प्राणायाम में सहायक होते हैं, और कई एक रोगों के दूर करने में भी सहायक होते हैं। सूत्रकार को वही आसन सम्मत है, जिस

रीति पर आराम से देर तक निश्चल बैठें रह सकें । यह योग का अंग है ।

सं०--उस की प्राप्ति का उपाय कहते हैं-

**प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥**

अर्थ—( प्रयत्न-शैथिल्या-ऽनन्त-समापत्तिभ्याम् ) प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त में मग्न होने से "वह आसन स्थिर सुख होता है" ।

भाष्य--शरीर के धारक प्रयत्न को ढीला करके किसी अनन्त पदार्थ में चित्त को मग्न करने से देह का अध्यास छूट कर आसन जम जाता है, फिर अंग कांपते नहीं हैं। यही आसन का जीतना है ।

सं०—इस का फल बतलाते हैं—

**ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥**

अर्थ—(ततः) तब ( द्वन्द्वा-ऽनभिघातः ) द्वन्द्वों की चोट नहीं लगती ।

भाष्य—जब आसन सिद्ध हो जाता है, तो उस समय योगी को सरदी, गर्मी, भूख, प्यास कुछ नहीं प्रतीत होती ।

सं०—आसन सिद्धि के अनन्तर प्राणायाम कहते हैं-

**तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥**

अर्थ—( तस्मिन् , सति ) उस के होने पर * ( श्वास-प्रश्वासयोः) सांस के आने जाने की (गति-विच्छेदः ) गति का बंद होना ( प्राणायामः ) प्राणायाम ' है ' ।

भाष्य—जब आसन को जीत लिया, तो फिर प्राणों के रोकने का नाम प्राणायाम है । इस के भेद आगे कहते हैं-

## बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—( बाह्या-भ्यन्तर-स्तम्भ-वृत्तिः ) बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति और स्तम्भवृत्ति ( देश-काल-सङ्ख्याभिः ) देश, काल और संख्या से ( परि-दृष्टः ) देखा गया है ( दीर्घ-सूक्ष्मः ) लम्बा और हलका ।

अन्वयार्थ—वह प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति यह तीन प्रकार का देश, काल और संख्या से लम्बा और हलका देखा जाता है ॥

भाष्य—वह प्राणायाम तीन प्रकार का है बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति । जिस प्राणायाम में सांस को बाहर निकाल कर उस की गति को रोक दिया जाता है, वह

---

* आसन, यमनियमों की नाईं स्वतन्त्र योग का अंग नहीं, किन्तु प्राणायाम के साधन में उपाय है, इसलिये योग का अंग है । यमनियम सर्वदा अनुष्ठान किये जाते हैं, और आसन की प्राणायाम से पहले ही आवश्यकता है । इसलिये कहा है ' उसके होने पर ' ।

बाह्यवृत्ति वा रेचक प्राणायाम है। जिस में अन्दर सांस खींच कर अन्दर ही उस की गति रोकी जाती है, वह आभ्यन्तर-वृत्ति वा पूरक प्राणायाम है। और जिस में न अन्दर खींच कर न बाहर फैंक कर किन्तु जहां का तहां एकदम प्राण को रोक दिया जाता है, वह स्तम्भवृत्ति वा कुम्भक प्राणायाम है। सो यह तीनों प्रकार का प्राणायाम ज्यों २ योगी का अभ्यास बढ़ता है, त्यों २ देश, काल और संख्या के परिमाण से दीर्घ ( लम्बा ) और सूक्ष्म ( पतला, हलका ) होता चला जाता है। पहले पहल रेचक प्राणायाम में बाहर प्राण फैंकते समय जितनी दूर तक जाता है, धीरे २ अभ्यास से उस का परिमाण बढ़ना आरम्भ होता है, और इस का पता इस तरह लग सकता है, कि रेचक प्राणायाम के समय नासा के सामने पतली सी रुई रखने से जितनी दूर पर वह सांस के स्पर्श से हिलती है, कुछ दिनों के अभ्यास के पीछे उस से अधिक दूरी पर भी हिलने लगती है । जिस तरह रेचक प्राणायाम में सांस की लम्बाई बाहर बढ़ती है, इसी तरह पूरक में अन्दर बढ़ती जाती है, अन्दर सांस खीचने में अन्दर ही सांस का चीटी का सा स्पर्श प्रतीत होता है, यह स्पर्श भी अभ्यास के क्रम से नीचे की ओर तो पादतल तक और ऊपर की ओर मस्तक तक पहुंच जाता है । और कुम्भक में न बाहर कुछ हिलता है, न अन्दर स्पर्श होता है। इसी प्रकार तीनों प्रकार का प्राणायाम अभ्यास द्वारा काल के परिमाण में भी बढ़ता जाता है । जितने काल तक पहले पहल प्राणायाम होता है, धीरे २ उस से अधिक २

काल तक होता है। और इसी प्रकार संख्या के परिमाण से बढ़ता है, अर्थात् कितने ही सांसों का एक सांस बन जाता है। आज के प्राणायाम में यदि बारह सांसों का एक सांस है ( स्वाभाविक रीति पर जो बारह सांस लेते थे, प्राणायाम के बल से उन की जगह एक ही लिया गया है ) तो धीरे धीरे २४ सांसों का एक सांस बन जाता है। यह प्राणायाम में देश, काल और संख्या का परिमाण है। इस प्रकार अभ्यास से प्राणायाम लम्बा ( घड़ी, पहर, दिन, पक्ष, महीना और बरस आदि तक ) और सूक्ष्म ( बड़ी निपुणता से जानने योग्य ) होता चला जाता है।

सं०—तीन प्राणायाम कहकर चौथे का लक्षण कहते हैं-

## बाह्याभ्यान्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः । ५१ ।

अन्ववार्थ—( बाह्या-ऽभ्यन्तर-विषया-ऽऽक्षेपी ) बाह्य और भीतर के विषय को फैंकने वाला अर्थात् उलांघने वाला (चतुर्थः) चौथा 'प्राणायाम होता है'॥

भाष्य—रेचक प्राणायाम का विषय बाह्य है, क्योंकि उस में प्राणों को बाहर निकाल कर ठहराया जाता है, और पूरक का विषय आभ्यन्तर है, इस में प्राणों को भीतर खींच कर ठहराया जाता है। उन दोनों प्रकार के प्राणायाम के अभ्यास के साथ जो कुम्भक प्राणायाम है, उसे सहितकुम्भक कहते हैं। सहितकुम्भक में रेचक और पूरक ( बाह्य और अभ्यान्तर विषय ) की अपेक्षा रहती है। उसके पीछे अभ्यास-क्रम से प्राणों के रोकने में इतनी शक्ति बढ जाती है, कि रेचक

और पूरक के बिना ही प्राण थम जाते हैं । सो यह रेचक और पूरक को उलांघने वाला ( रेचक और पूरक की अपेक्षा न रखने वाला ) कुम्भक प्राणायाम चौथा है । इस चौथे प्राणायाम को केवल कुम्भक कहते हैं ॥

सं०—चतुर्विध प्राणायाम का फल कहते हैं—

## ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—( ततः ) उस से=प्राणायाम से ( क्षीयते ) क्षीण होता है (प्रकाशा-ऽऽवरणम् ) प्रकाश का आवरण=विवेकज्ञान का परदा ॥

भाष्य—जिस तरह सूर्य के सामने जो बादल है, वह कभी २ पतला होते २ बिलकुल क्षीण हो जाता है । इसी तरह विवेक ज्ञान पर जो अविद्या आदि क्लेशों का परदा पुरुष को संसार में जकड़े हुए है, वह प्राणायाम के अभ्यास से दुर्बल होते २ क्षीण होजाता है । जैसा कि पञ्चशिखाचार्य ने कहा है 'तपो न परं प्राणायामात्, ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य' प्राणायाम से बढ़ कर कोई तप नहीं, उस से मल धोए जाते हैं और ज्ञान चमकता है ॥

सं०—प्राणायाम का दूसरा फल कहते हैं—

## धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

अर्थ—( धारणासु, च ) और धारणाओं में ( योग्यता, मनसः ) मन की योग्यता 'होती है' ॥

भाष्य—तीसरे पाद में कई प्रकार की धारणाएं कहेंगे,

प्राणायाम के अभ्यास से ही मन उन सारी धारणाओं के योग्य बन जाता है। अर्थात् जहां धारण किया जाता है, वहीं स्थिर हो जाता है, इधर उधर नहीं डोलता ॥

सं०—क्रम प्राप्त प्रत्याहार का लक्षण करते हैं—

## स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ—( स्व-विषया-ऽसम्प्रयोगे ) अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर ( चित्तस्य ) चित्त के ( स्वरूपा-ऽनु-कारः, इव ) स्वरूप की नकल सा ( इन्द्रियाणाम् ) इन्द्रियों का ( प्रत्याहारः ) प्रत्याहार ॥

अन्वयार्थ—इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर चित्त के स्वरूप की नकल सा बन ज़ाना प्रत्याहार है।

भाष्य—बाह्य इन्द्रिय चित्त के अधीन हो कर बाहर के विषयों को ग्रहण करते हैं। जब प्राणायाम के अभ्यास से चित्त बाहर की ओर से निरुद्ध हो जाता है, तो चित्त की तरह सारे इन्द्रिय भी निरुद्ध हो जाते हैं, उन के जीतने के लिये किसी और उपाय की अपेक्षा नहीं रहती। जिस तरह रानी मक्खी के उड़जाने पर सारी (शहद की) मक्खियां उड़ जाती हैं, और उस के बैठने पर बैठ जाती हैं, इसी प्रकार चित्त जब बहिर्मुख होता है, तो इन्द्रिय भी बहिर्मुख होते हैं, और जब वह बाह्य विषयों से विमुख होता है, तो इन्द्रिय भी उन से विमुख होते हैं। सो चित्त के अन्तर्मुख होने पर इन्द्रियों का बाह्य विषयों से विमुख होकर चित्त के स्वरूप की नकल सा बन

जाना प्रत्याहार है। इस अवस्था में चित्त तो बाह्य विषयों से विमुख हो कर तत्व को साक्षात् करता है, पर बाह्य इन्द्रिय केवल बाह्य विषयों से विमुख होते हैं, चित्त की तरह तत्व को ग्रहण नहीं करते, इस लिये 'इव' 'सा' अर्थात् नकल सा कहा है॥

सं०—प्रत्याहार का फल कहते हैं-

## ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ—(ततः) उस से=प्रत्याहार से (परमा) सब से उत्तम (वश्यता) वशवर्ति होना (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों का।

अन्वयार्थ--प्रत्याहार से इन्द्रियों का परम विजय होता है॥

भाष्य--कई लोग कहते हैं, कि शब्द आदि विषयों में आसक्त न होना (फंस न जाना) इन्द्रियजय है। दूसरे कहते हैं कि वेद से अविरुद्ध विषयों का सेवन करना और वेद विरुद्ध विषयों में प्रवृत्त न होना इन्द्रियजय है। तीसरे कहते हैं कि शब्द आदि भोग्यों को अपने अधीन भोगना, न कि भोगों के अधीन होना, इन्द्रियजय है। यह सब इन्द्रियजय (इन्द्रियों के वशवर्ति होने) के लक्षण कहे गए हैं। पर इन में विषयों का सम्बन्ध बना रहने से गिरने की आशङ्का दूर नहीं हो सकती। विषविद्या का जानने वाला सांप को पूरा २ वश करके भी उसे गोद में लेकर विश्वस्त नहीं हो सकता। इस लिये यह सारे इन्द्रियजय परम (सब से ऊंचे) नहीं हैं, परमजय (वश्यता) यही है, जो चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियों का सर्वथा निरुद्ध होना है। विषयों का सम्बन्ध सर्वथा दूर हो जाने से कोई

आशंका शेष नहीं रहती, यही वश्यता प्रत्याहार का फल है। इसी का भगवान् जैगीषव्य ने यह लक्षण किया है 'चित्तैकाग्र्यादप्रतिपत्तिरेव' चित्त के एकाग्र होने से इन्द्रियों का विषयों में न जाना ही इन्द्रियजय है ॥

**क्रियायोगं जगौ क्लेशान् विपाकान् कर्मणामिह।**
**तद् दुःखत्वं तथा व्यूहान् पादे योगस्य पञ्चकम् ॥**

क्रिया योग, क्लेश, कर्मों के विपाक, उन का दुःख रूप होना, हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय यह चार व्यूह, और योग के पांच अंग इस (दूसरे) पाद में कहे गए हैं ॥

## दूसरा पाद (साधन पाद) समाप्त हुआ।

ओ३म्

# तीसरा पाद ( विभूतिपाद )

पहले पाद में योग और दूसरे में उस के साधन बतलाए हैं, अब तीसरे पाद में योगी की विभूतियें बतलाएंगे। विभूतियें संयम से सिद्ध होती हैं, और संयम धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों के समुदाय का नाम है। इस लिए पहले योग के इन तीन अंगों ( धारणा, ध्यान, समाधि ) का क्रम से यहां निरूपण करते हैं-

## देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

शब्दार्थ--(देश-बन्धः) देश में बांधना ( चित्तस्य) चित्त का ( धारणा ) धारणा है ॥

अन्वयार्थ—चित्त का (आभ्यान्तर वा बाह्य किसी एक) स्थान में बांधना ( जकड़ना ) धारणा है ॥

भाष्य--जब प्राणायाम से चित्त धारणा के योग्य बन गया, तो अब उसे अपने भीतर नाभिचक्र में, हृदय कमल में, मूर्द्धा में स्थित जो ज्योति है उस में, नासिका के अग्र में, वा जिह्वा के अग्र में, इत्यादि स्थानों में, अथवा किसी बाहर के विषय में चित्त को स्थिर करना, चित्त की वृत्ति को एक जगह टिका देना, धारणा कहलाती है।

## तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

अर्थ—( तत्र ) उस में=जिस में चित्त को धारण किया

है, उस प्रदेश में (प्रत्ययैकतानता) वृत्ति की एकाग्रता (ध्यानम्) ध्यान है।

भाष्य--जहां चित्त को धारण किया है, उसी प्रदेश में जो उस की वृत्ति का एकाग्र होना है, अर्थात् एक ही प्रकार की वृत्ति का लगातार उदय होते चला जना, उस के अन्दर किसी दूसरे प्रकार की वृत्ति का उदय न होना, यह ध्यान है।

## तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—(तत्, एव) वही-ध्यान ही (अर्थमात्र-निर्भासम्) अर्थमात्र जिस में भासता है (स्वरूप-शून्यम्, इव) स्वरूप से शून्य सा (समाधिः) समाधि।

अन्वयार्थ--वह ध्यान ही समाधि कहलाता है, जब उस में केवल अर्थ (ध्येयमात्र) भासता है, और उस का रूप (ध्यान रूप) शून्य (गुम) सा हो जाता है।

भाष्य--जब एकाग्रताकाल में ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों भासते हैं, तो वह ध्यान कहलाता है, जब ध्यान इतना प्रबल लग जाता है, कि सिवाय ध्येय के कुछ नहीं भासता। यद्यपि ध्यान उस समय भी बना रहता है, क्योंकि ध्यान न हो, तो ध्येय कैसे भासे, तथापि वह ध्येय में ऐसा मग्न हो जाता है, कि मानों ध्यान भी गुम सा होजाता है। उस अवस्था में ध्यान समाधि कहलाता है।

## त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ--( त्रयम् ) तीनों ( एकत्र ) एक में=एक विषय में ( संयमः ) संयम ।

अन्वयार्थ--एक विषय में तीनों का होना संयम कहलाता है ॥

भाष्य--जब धारणा ध्यान और समाधि तीनों एक विषय में होते हैं, अर्थात् जिस विषय में धारणा है, उसी में ध्यान और उसी में चित्त की समाधि हो, तो योगशास्त्र में उसे संयम कहते हैं ।

यह संज्ञा इसलिये की है, कि आगे २ संयम में धारणा, ध्यान,और समाधि के अलग २ कहने की आवश्यकता न होगी।

सं०—संयम का फल कहते हैं—

## तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

अ०—( तज्-जयात् ) उस के जय से ( प्रज्ञा-ऽऽलोकः ) प्रज्ञा का प्रकाश ' होता है ' ॥

भाष्य—जैसे २ संयम स्थिति पाता जाता है, वैसे २ समाधि प्रज्ञा का प्रकाश बढ़ता जाता है ।

सं०—संयम का उपयोग बतलाते हैं-

## तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

अ०—( तस्य ) उसका=संयम का ( भूमिषु ) भूमियों में ( विनियोगः ) विनियोग " करना चाहिये " ॥

भाष्य—योग की जो नीची ऊंची भूमियें ( अवस्थाएँ ) हैं, उन में से निचली २ भूमि को जीत कर अगली २ भूमि में

संयम करना चाहिये, क्योंकि जो निचली भूमि को अपने अधीन न करके पहले उत्तर भूमि में संयम करता है, वह संयम का फल भागी नहीं होता । इस लिये पहले सवितर्क में संयम करके सवितर्क को जीत कर फिर निर्वितर्क में संयम करे, उसे जीतकर सविचार में और सविचार को जीतकर निर्विचार समाधि में संयम का विनियोग करना चाहिये, उस के जीतने पर प्रज्ञा का प्रकाश पूर्ण हो जाता है ॥

## त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

अर्थ—( त्रयम् ) तीनों ( अन्तरङ्गम् ) अन्तरंग-भीतर का अंग-निकट का साधन ( पूर्वेभ्यः ) पहलों से ॥

अन्वयार्थ—पहलों की अपेक्षा से धारणा आदि तीन अन्तरङ्ग हैं ॥

भाष्य—योग के आठ अंगों में से पहले पांच ( यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ) बहिरङ्ग हैं, क्योंकि वह चित्त को निर्मल बना कर योग के उपयोगी बनाते हैं, योग के साक्षात् साधन नहीं । और धारणा, ध्यान, समाधि यह तीनों अन्तरङ्ग है, क्योंकि यह योग के साक्षात् साधन हैं । अन्तरङ्ग होने के हेतु से ही इन तीनों साधनों का विभूति पाद में वर्णन किया है, जब कि पहले पांच साधन साधनपाद में वर्णन किये हैं ॥

## तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

अर्थ—( तत्, अपि ) वह भी=धारणा, ध्यान, समाधि यह सम्प्रज्ञातयोग का अन्तरङ्ग साधन भी ( बहिरङ्गम् ) बहि-

रंग=बाहर का अंग है ( निर्बीजस्य ) निर्बीज का ॥

भाष्य--धारणा, ध्यान, समाधि, यह त्रिक, सम्प्रज्ञात योग का तो अन्तरङ्ग अंग है, पर असम्प्रज्ञात ( निर्बीज ) योग का बहिरंग अंग है। क्योंकि असम्प्रज्ञात का साक्षात् साधन परवैराग्य है, न कि संयम। ( देखो पूर्व १ । ११८ ) ॥

सं०—( प्रश्न ) जब निर्बीज समाधि में चित्त निरुद्ध हो जाता है, तो उस समय चित्त का कैसा परिणाम ( तबदीली ) होता है, क्योंकि चित्त त्रिगुणात्मक है, और गुण क्षणमात्र भी बिना परिणाम के नहीं रह सकते ? ( उत्तर ) ॥

**व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥९॥**

अर्थ—( व्युत्थान-निरोध-संस्कारयोः ) व्युत्थान के और निरोध के संस्कार का ( आविर्भाव-प्रादुर्भावौ ) दबना और प्रकट होना (निरोध-क्षण-चित्ताऽन्वयः) निरोध समय के चित्त का अनुगत होना (निरोध-परिणामः) निरोध परिणाम=निरोध समय में चित्त का परिणाम है ॥

भाष्य—निर्बीजावस्था में चित्त की सारी वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं, वह साक्षात्कार भी जो सालम्बन (सबीज-सम्प्रज्ञात ) योग में है, निर्बीजावस्था में निरुद्ध हो जाता है, सो निर्बीजावस्था में कोई प्रतीति शेष नहीं रहती। व्युत्थान की सारी वृत्तियां उस समय बन्द होती हैं* व्युत्थान के संस्कार

* यह याद रखना चाहिये, कि यद्यपि एकाग्र वृत्ति की अपेक्षा से क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त वृत्तियां व्युत्थान की वृत्तियां हैं, पर निरोध

भी चित्त के धर्म हैं, पर वह वृत्तियों के बंद होने से बंद नहीं होते, क्योंकि वे वृत्तिरूप नहीं हैं। इसी प्रकार निरोध के संस्कार भी चित्त के धर्म हैं। अब निरोधक्षण में चित्त के अन्दर यह परिणाम होता है, कि निरोध के संस्कार अब प्रादुर्भूत होते हैं, और व्युत्थान के संस्कार अभिभूत होते हैं। व्युत्थान के नष्ट होते हैं, और निरोध के संस्कार ढलते हैं। निरोध समय का चित्त संस्कारों में बदलने में भी अनुगत रहता है। इस प्रकार एक चित्त के संस्कारों का बदलना निरोध-परिणाम है। ऐसा ही पूर्व (१। १८ में) कहा है कि निरोध-समाधि में चित्त में संस्कार ही शेष रहते हैं॥

सं०—जब निरोधावस्था में बलवान् निरोधसंस्कार से व्युत्थान का संस्कार सर्वथा दब जाता है, तब चित्त का कैसा परिणाम होता है।

## तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ—(तस्य) उसका=चित्त का (प्रशान्त-वाहिता) प्रशान्त बहना (संस्कारत्) संस्कार से 'होता है'॥

अन्वयार्थ—निरोध संस्कार से चित्त का प्रवाह प्रशान्त बहने लगता है।

---

की अपेक्षा से एकाग्र वृत्ति भी व्युत्थान है। क्योंकि एकाग्र वृत्ति में भी द्रष्टा दृश्य में अवस्थित होता है, न कि स्वरूप में। स्वरूप में अवस्थित केवल निरोध में होता है, इस लिये उस के बिना सब व्युत्थान है॥

भाष्य—निरोध संस्कार के अभ्यास से जब निरोध संस्कार प्रबल होता है, तब व्युत्थान के संस्कार सर्वथा दब जाते हैं, और निरोध संस्कारों की परम्परा प्रवृत्त होती है यही चित्त का प्रशान्त बहना वा एकरस बहना है। निरोध संस्कार के मन्द होते ही व्युत्थान संस्कार फिर दबा लेता है।

सं०—अब सम्प्रज्ञात समाधि में चित्त का परिणाम दिखलाते हैं—

## सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

अर्थ—(सर्वार्थतै-काग्रतयोः) सर्वार्थता=विक्षिप्तता, और एकाग्रता का (क्षयो-दयौ) क्षय और उदय=अभिभव और प्रादुर्भाव (चित्तस्य) चित्त का (समाधि-परिणामः) समाधि "अवस्था में" परिणाम 'होता है'॥

भाष्य—सर्वार्थता अर्थात् सारे विषयों में चलायमान होना भी चित्त का धर्म है, और एकाग्रता अर्थात् एक विषय में टिक जाना भी चित्त का धर्म है। समाधि के समय इन में से पहला धर्म चित्त का दब जाता है और दूसरा प्रकट होता है, चित्त के इस परिणाम का नाम समाधिपरिणाम है॥

सं०—जब अभ्यासबल से सर्वार्थता (सर्वविषयता) का सर्वथा क्षय हो जाता है, तो समाहित चित्त का कैसा परिणाम होता है—

## ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यै-काग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—( ततः, पुनः ) तब फिर (शान्तो-दितौ) शान्त और उदय हुई (तुल्य-प्रत्ययौ) समान वृत्तियें (चित्तस्य) चित्त का ( एकाग्रता-परिणामः ) एकाग्रता परिणाम ॥

अन्वयार्थ—तब फिर समान वृत्तियों का शान्त और उदय होना एकाग्रता परिणाम है ॥

भाष्य—जब चित्त का विक्षेप सर्वथा दब जाता है, तब चित्त एकाग्र होता है। एकाग्रता में भी चित्त बराबर बदलता रहता है,पर विक्षेप में जिस तरह एक वस्तु को छोड़ कर दूसरे में धावन करता है, इस तरह एकाग्रता में नहीं होता, किन्तु जिस वस्तु को पकड़ा है, उसी में लग जाता है। चित्त के बदलने के कारण वृत्तियां बदलती तो हैं, पर जैसी वृत्ति शान्त हुई है, बार २ वैसी ही उदय होती है, जब तक समाधि का भंग नहीं होता। यही चित्त का एकाग्रता परिणाम है ॥

सं०—अब प्रसङ्ग से भूत और इन्द्रियों के परिणाम के भेद बतलाते हैं—

## एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

अर्थ—( एतेन ) इस से अर्थात् पूर्व जो चित्त का परिणाम कहा है, इस से ( भूते-न्द्रियेषु ) भूतों में और इन्द्रियों में ( धर्म-लक्षणा-ऽवस्था-परिणामा ) धर्म, लक्षण और अवस्था

के परिणाम (व्याख्याताः) व्याख्या किये गए 'जानने चाहियें।

भाष्य—६ से १२ इन चार सूत्रों में जो चित्त में तीन प्रकार के परिणाम बतला आए हैं, उसी रीति पर पाँचों भूतों में और सारे इन्द्रियों में तीन प्रकार के परिणाम होते हैं-धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम ॥

पूर्व सूत्रों में चित्त में धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्था परिणाम यह तीन परिणाम दिखलाए हैं, तथापि यह नाम पूर्व सूत्रों में नहीं लिये गए, किन्तु वहां निरोध परिणाम प्रशान्तवाहिता, समाधिपरिणाम और एकाग्रतापरिणाम यह नाम लिये हैं। इस लिये पहले दृष्टान्त द्वारा इन परिणामों को दिखला कर फिर चित्त में भूतों में और इन्द्रियों में इन तीनों को अलग २ दर्शाते हैं ॥

यह याद रखना चाहिये कि असत् की उत्पत्ति नहीं होती, और सत् का स्वरूपनाश नहीं होता। एक क्रम को दूसरे क्रम में बदलने के सिवाय और कुछ इस दुनियां में हो नहीं रहा ॥

जैसे एक मट्टी का गोला है, कुम्हार उस के क्रम को बदलता है, वह घड़ा बन जाता है, एक ही गोले से कई प्रकार के बर्तन भिन्न २ प्रकार के क्रम बदलने से बन जाते हैं, मट्टी सब बर्तनों में वही है। ये सारे आकार उस एक ही मट्टी के हैं, मट्टी ज्यों की त्यों बनी रहती है, उसके आकार बदल जाते हैं। वह मट्टी ( द्रव्य ) धर्मी है, और ये भिन्न २ आकार ( घड़ा आदि ) उस के धर्म हैं । इन में से एक धर्म का दबना और

दूसरे का प्रकट होना धर्मी (मट्टीरूपी द्रव्य) का धर्मपरिणाम है। अर्थात् धर्मी जो मट्टी है, उस में कोई परिणाम नहीं हुआ, केवल उस के धर्म (=आकार) का परिणाम हुआ है। मट्टी गोले के आकार को छोड़ कर घड़े के आकार में आई है॥

अब यह मट्टी का एक नया धर्म (घड़ा) सिवाय उस के एक नए आकार के और कुछ नहीं। और यह आकार भी पहले ही उस में था, पर छिपा हुआ था, नया हम इस लिये कहते हैं, कि अब प्रकट हुआ है। जैसे एक कपड़े को लपेट कर गेंद सा बनादें, तो वह उस का पहला आकार जो लम्बाई चौड़ाई का था, इस नए आकार में छिप गया है, अभाव नहीं हुआ। इसी तरह जब एक आकार प्रकट होता है, तो दूसरे उस में छिपे रहते हैं, नए कहीं से आ नहीं जाते, वही प्रकट होते हैं, जो पहले उस में थे। इसी तरह मट्टी में घड़े का आकार भी पहले ही था, वह मट्टी के गोले में लपेटा हुआ था, अब उस को फैलाने से व्यक्त (प्रकट) हुआ है। यह उस छिपे हुए धर्म (आकार) का प्रकट होना धर्म का लक्षण परिणाम है। किसी धर्म (आकार) का छिपा हुआ होना दो प्रकार से होता है, या तो वह अभी प्रकट नहीं हुआ या प्रकट हो कर फिर मिल गया है। घड़ा जब तक प्रकट नहीं हुआ, तब तक वह अनागत (भविष्य) लक्षण द्रव्य है, जब प्रकट हो गया है, तो वर्त्तमान लक्षण है, जब टूट गया है, तो अतीत लक्षण है, तीनों कालों में विद्यमान है, उसका अभाव कभी नहीं। प्रकट होने से पहले, प्रकट होने के काल में और टूट जाने के पीछे, यह तीनों काल भेद से उस विद्यमान घट के तीन लक्षणपरिणाम कहलाते हैं, अना-

गतलक्षणपरिणाम, वर्त्तमानलक्षणपरिणाम और अतीतलक्षण परिणाम ॥

अब वर्त्तमानलक्षणयुक्त धर्म (आकार=घड़ा आदि) की नई पुरानी अवस्था का बदलना **अवस्थापरिणाम** है। जब घड़ा प्रकट हो गया है, तो उस का वर्त्तमानलक्षणपरिणाम हो गया। अब ज्यों २ वह सूखता है, और फिर पकता है, त्यों २ दृढ़ होता है, यह उसकी अवस्था बदल रही है, फिर वह पकने के पीछे धीरे २ बोदा होना आरम्भ होता है, इसलिये जितना पुराना होता है, उतना दुर्बल होता जाता है, यह वर्त्तमान लक्षण धर्म का दृढ़ और दुर्बल होना अवस्था है, इसका प्रतिक्षण तारतम्य, * यह अवस्थापरिणाम है ॥

यह तीन परिणाम हैं, इन में से धर्म और लक्षण परिणाम तो वस्तु की उत्पत्ति समय में होता है, और अवस्थापरिणाम तब तक होता रहता है, जब तक वह पदार्थ बना है। जो कुछ गुणमय (गुणों से बना हुआ) है, सब परिणामशील है, एक क्षण भी बिना परिणाम के नहीं रह सकता। क्योंकि गुण चलस्वभाव हैं, वे कभी स्थिर नहीं होते, इस लिये यह गुणमय दृश्य सदा परिणत होता रहता है। एक प्रकार का परिणाम, बनने के लिये होता रहता है और दूसरे प्रकार का दृढ़ होने और टूटने के लिये होता रहता है ॥

इन में से जिस के जो परिणाम हैं, वह अपने सारे परि-

---

* दृढ़ और दुर्बल होने में थोड़ा २ भेद बराबर प्रतिक्षण होते जाना ॥

णामों में अनुगत ( साथ ) होता है, जैसे मट्टी के गोले में जो मट्टी अनुगत है, वही उस मट्टी के घड़े में अनुगत है । निदान जो कुछ उस मट्टी से बनेगा, वह मट्टी उन सारे धर्मों में अनुगत रहेगी ॥

यही धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम पूर्व सूत्रों में चित्त की असम्प्रज्ञात और सम्प्रज्ञात अवस्था में दिखलाए हैं । यद्यपि वहां धर्म, लक्षण और अवस्था शब्द उच्चारण नहीं किये । क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त अवस्था में तो चित्त सब (अनेक) विषयों में दौड़ता है, किसी एक विषय पर टिका हुआ नहीं होता, उस समय चित्त का सर्वार्थता ( सर्व विषयता ) धर्म है, और समाधि में चित्त एक विषय में टिकता है अर्थात् उस समय सर्वार्थता दब जाती है, और एकाग्रता प्रकट होती है, यह चित्त के एक आकार का दबना और दूसरे का प्रकट होना धर्मी जो चित्त है, उस का धर्मपरिणाम है । जिसे ११ वें सूत्र में समाधिपरिणाम अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधिकाल में होने वाला चित्त का परिणाम कहा है । चित्त जो २ नया आकार धारण करता है, वह सब चित्त का धर्मपरिणाम है, समाधि काल में होने वाला जो धर्मपरिणाम है, उसे समाधिपरिणाम कहा है । चित्त दोनों ( सर्वार्थता और एकाग्रता इन दोनों में से एक के क्षय और दूसरे के उदय ) में अनुगत है । अब धर्म परिणाम के साथ ही लक्षणपरिणाम जान लेना चाहिये, अर्थात् एकाग्रता जो पहले अनागतरूपी थी, अब वर्त्तमानरूपी हुई है, यही उस एकाग्रतारूप धर्म का वर्त्तमानलक्षणपरिणाम है । अब एकाग्रता प्रकट हो कर पहले बलवती होती जाती है (जिस

से एकाग्रता का विषय अधिक स्पष्ट होता जाता है) फिर समाधि के भंग तक दुर्बल होती जाती है, यह उसकी अवस्था का बदलना अवस्थापरिणाम है, जिसे १२ वें सूत्र में एकाग्रता-परिणाम कहा है। अर्थात् समाधिकाल में जो एकाग्रता उत्पन्न हुई थी, वह एकाग्रता इतनी देर तक बनी रही है। फिर जब चित्त निरुद्ध होता है, तो उस समय चित्त में कोई वृत्ति नहीं रहती, एकाग्रता भी नहीं रहती। उस समय व्युत्थान के संस्कार दबते हैं और निरोध के संस्कार प्रकट होते हैं, यह व्युत्थान के संस्कारों का दबना और निरोधसंस्कारों का प्रकट होना धर्मी चित्त का धर्मपरिणाम है, जिसे सूत्र ९ में निरोधपरिणाम कहा है, निरोध काल में होने वाला जो चित्त का धर्मपरिणाम है, उसे निरोधपरिणाम कहा है। चित्त दोनों में अनुगत है। धर्म परिणाम के साथ ही लक्षणपरिणाम भी जान लेना चाहिये। निरोधसंस्कार जो पहले अनागतरूप थे, अब वर्त्तमान रूप हुए हैं, यही उनका वर्त्तमानलक्षणपरिणाम है। फिर निरोधसमाधि के भंग तक जो चित्त में उन्हीं संस्कारों के दृढ़ और दुर्बल होते हुए प्रशान्त प्रवाह का बहना है, यह उसका अवस्था परिणाम है, जो सूत्र १० में कहा है। सूत्रों में निर्बीज का प्रसंगवशतः पहले वर्णन कर दिया है। सो इस तरह चित्त में ये तीनों परिणाम दिखलाए हैं, चित्त की तरह ही भूतों में और इन्द्रियों में भी ये तीनों परिणाम जानने चाहियें। भूतों में जो ऊपर मट्टी और घड़े का उदाहरण दे आए हैं, इसी तरह और उदाहरण भी जान लेने चाहियें। भौतिक शरीरों में भी इसी तरह जानना चाहिये, गौ, घोड़े आदि के देह का बन

जाना पूर्ववत् यथायोग्य धर्मपरिणाम और लक्षणपरिणाम है, और उन के बाल्य, कौमार, यौवन, बुढ़ापा, ये अवस्था परिणाम हैं । इसी प्रकार इन्द्रियों में भी-जैसे नेत्र से नीले आदि रंग का देखना धर्मी ( नेत्र ) का धर्मपरिणाम है, धर्म का वर्त्तमान होना आदि लक्षणपरिणाम है और ( रक्त आदि के ) देखने में स्फुट प्रतीत होना और अस्फुट प्रतीत होना आदि अवस्थापरिणाम है । इन सारे परिणामों में द्रव्य वही रहता है, केवल उस की संस्थिति बदलती है । यह संस्थिति ही उत्पन्न होती है, और नष्ट होती है, द्रव्य न उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है । सारा दृश्य भिन्न २ संस्थितिमात्र है, मूल द्रव्य सर्वत्र सत्व, रजस् और तमस् है ॥

सं०—जिस का यह तीन प्रकार का परिणाम है, उस धर्मी का लक्षण कहते हैं :—

## शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४॥

अर्थ—(शान्तो-दिता-ऽव्यपदेश्य-धर्मा-ऽनुपाती ) अतीत, वर्त्तमान, और भविष्यत् धर्मों में अनुगत ( धर्मी ) धर्मी है ॥

भाष्य—पूर्व कह आए हैं, धर्मी द्रव्य है, और धर्म उस के भिन्न २ आकार हैं । जैसे मट्टी धर्मी है, और मट्टी का चूर्ण, गोला, घड़ा आदि जितने उस मट्टी के आकार हो चुके हैं, और होंगे । ये सब उस के धर्म हैं अर्थात् धर्म उस के विशेष रूप आकार हैं. और धर्मी सामान्यरूप द्रव्य है, जो सारे आकारों में अनुगत है। द्रव्य के दो रूप हैं, सामान्य और विशेष। विशेष धर्म हैं और सामान्य धर्मी है । विशेष भी अपने अगले

विषयों के प्रति धर्मी बन जाता है। इन में से जो धर्म अपना २ काम करके नष्ट हो गए हैं अर्थात् फिर उसी में मिलगए हैं, लपेटे गए हैं, वे अतीत वा शान्त कहलाते हैं, जो प्रकट हैं, अपना काम कर रहे हैं, वे वर्त्तमान वा उदित कहलाते हैं, जो अभी तक प्रकट नहीं हुए, किन्तु शक्तिरूप से स्थित हैं, छिपे हुए हैं, लपेटे हुए हैं, वे अनागत वा अव्यपदेश्य (जो बतलाए नहीं जा सकते) कहलाते हैं। इन तीनों प्रकार के धर्मों में जो अनुगत रहता है, वह धर्मी है॥

जिस से जो कुछ बन चुका है, बना हुआ है, और बन सकता है, वह सब उस के धर्म हैं। ये एक २ धर्मी में अनेकानेक रहते हैं। अपने २ निमित्तों के मिलने से प्रकट होते रहते हैं॥

सं०—एक धर्मी के अनेक धर्म किस तरह होते हैं? इस का उत्तर कहते हैं—

## क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

अर्थ—( क्रमा-ऽन्यत्वम् ) क्रम का भेद ( परिणामा-ऽन्यत्वे ) परिणाम के भेद में ( हेतुः ) हेतु 'है'॥

भाष्य एक ही मट्टी के भिन्न २ अनेक क्रम होते हैं, जैसा पहले चूर्ण, फिर गोला, फिर घड़ा। फिर घड़ा टूट कर कपाल, कपाल से ठीकरी, ठीकरी से चूर्ण, चूर्ण से फिर कुछ और ही क्रम आरम्भ हो जाता है, इस प्रकार क्रम के भेद से उस के भिन्न२ परिणाम होते हैं। जो जिस के पीछे होता है,

वह उस का क्रम है, गोला दूर होता है, और घड़ा प्रकट होता है, यह धर्मपरिणाम का क्रम है। इसी प्रकार लक्षणपरिणाम का क्रम होता है-घड़े का अनागत भाव से वर्त्तमान भाव क्रम है। वर्त्तमानभाव से अतीतभाव क्रम है। अतीत का आगे कोई क्रम नहीं, क्योंकि जो व्यक्ति अतीत हुई है वही व्यक्ति फिर वर्त्तमान में नहीं आती, उस के सदृश अन्य व्यक्ति हो फिर उस से प्रकट होती है। तथा अवस्थापरिणामक्रम भी-नया घड़ा जो अन्त में एक दिन बहुत पुराना दीखता है, वह उस का पुरानापन आज ही नहीं हुआ, किन्तु प्रतिक्षण क्रमशः होते २ आज पूरा दीखने लगा है। पहले दो परिणाम तो कभी २ होते हैं, पर यह अवस्था का परिणाम उन दोनों से बढ़ कर है, क्योंकि यह प्रतिक्षण होता रहता है। इसी परिणाम के हेतु जो धाईं पूरे सुरक्षित रक्खे गए हैं, वह भी बहुत बरसों के पीछे इतने बोदे हो जाते हैं, कि हाथ लगाते ही भुरजाते हैं (चूर्ण हो जाते हैं), यह उन में बोदापन अकस्मात् प्रकट नहीं हो जाता, किन्तु प्रतिक्षण धीरे २ होता चला आया है।

सं—अब यहां से आगे पाद की समाप्ति तक संयम का विषय और संयम की सिद्धि (विभूतियें) दिखलाएंगे, उन में से पहले तीनों परिणामों में संयम और उस की सिद्धि की महिमा दिखलाते हैं:—

## परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥१६॥

अर्थ—(परिणम-त्रय-संयमात्) तीनों परिणामों में संयम करने से (अतीत-ऽनागत-ज्ञानम्) भूत और भविष्यत् का ज्ञान "होता" ॥

भाष्य—धर्म, लक्षण, और अवस्था ये तीन परिणाम पूर्व कहे हैं, जब किसी वस्तु के इन तीनों परिणामों को लक्ष्य में रख कर योगी संयम करता है अर्थात् इन तीनों परिणामों के विषय में धारणा ध्यान और समाधि लगाता है, तो उसे उन तीनों परिणामों का साक्षात्कार होजाता है, उसके साक्षात् होने से वस्तु जिस २ अवस्था में से हो कर इस रूप में पहुंची है और जितने काल में पहुंची है, आगे जितने काल में जिस अवस्था में पहुंचेगी, इस का उसे ज्ञान हो जाता है ॥

अब भी भूगर्भ विद्या वाले पृथिवी के अन्दर की वस्तुओं के परिणाम को देख कर भूत भविष्यत् का ज्ञान प्रकट कर रहे हैं, वह भी चित्त को उस परिणाम में पूरा एकाग्र करके ही सब कुछ स्थिर करते हैं, पर यदि योग द्वारा चित्त को उस पर एकाग्र किया जाएगा, तो प्रत्यक्ष की तरह और अधिक दूर तक एक अद्भुत सफाई के साथ भूत और भविष्यत का ज्ञान प्राप्त होगा ॥

सं०—संयमसाध्य और विभूति वतलाते हैं—

## शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्व-भूतरुत ज्ञानम् ॥ १७ ॥

अर्थ—( शब्दा-ऽर्थ-प्रत्ययानाम् ) शब्द, अर्थ और ज्ञान के ( इतरेतरा-ऽध्यासात् ) परस्पर के अध्यास से ( सङ्करः ) सङ्कर, अभेद भासना 'होता है' (तत्-प्रविभाग-संयमात्) उन के विभाग में संयम करने से ( सर्व-भूत-रुत-ज्ञानम् ) सब

प्राणियों के शब्द का ज्ञान 'होता है' ॥

भाष्य – शब्द, अर्थ और ज्ञान ये तीनों एक नहीं, अलग २ हैं, जैसे गौ शब्द तो वह है, जिसे हम जिह्वा से उचारते हैं, और अर्थ उस का वह है, जिस का दूध पीते हैं, और उस का जानना ज्ञान है, जो बुद्धि का धर्म है। हमारे व्यवहार में इन तीनों का ऐसा मेल सा हो रहा है, कि यद्यपि ये तीनों भिन्न हैं, तथापि इन में भेदप्रतीति नहीं होती। इसी लिये जब किसी को कहा जाता है, कि गौ लेआ, तो वह सींग आदि वाली गाय जो अर्थ है, उस का वाचक ( बतलाने वाला ) जो गो शब्द है और उस का जितलाने वाला ज्ञान इन तीनों में भेद नहीं करता, यह शब्द है, यह अर्थ है और यह ज्ञान है इस प्रकार भेद से व्यवहार नहीं करता। इसी लिये यदि कोई पूछे, कि इस का क्या नाम है, तो हम कहते हैं गौ–यहां शब्द के लिये गौ बोला है, जब गौ के शरीर पर हाथ रखकर कहते हैं कि यह गौ है–यहां अर्थ के लिये गौ बोला है। मुझे गौ यह ज्ञान हुआ है, यहां ज्ञान के लिये गौ शब्द बोला है। इस से प्रतीत होता है, कि सामान्य व्यवहार में पुरुष इन तीनों में भेद नहीं जानता, पर वस्तुतः ये तीनों विभक्त ( अलग २ ) हैं। जब योगी इन तीनों के विभाग में संयम करता है, तो उस में संयम करने से उसके साक्षात्कार होने पर सब प्राणियों (पशु, पक्षी आदि ) के शब्द का ज्ञान होता है अर्थात् इस प्राणी ने यह शब्द इस अभिप्राय से उच्चारण किया है इस बात को योगी जान लेता है ॥

सं०—संयमसाध्य और विभूतियें क्रमशः कहते हैं—

## संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजाति ज्ञानम् । १८॥

अर्थ—(संस्कार-साक्षात्करणात्) संस्कारों के साक्षात् करने से ( पूर्व-जाति-ज्ञानम् ) पूर्व जन्म का ज्ञान 'होता है'।

भाष्य—दो प्रकार के संस्कार होते हैं-एक वासना रूप, जो स्मृति के और अविद्या आदि क्लेशों के हेतु हैं। दूसरे धर्माधर्मरूप, जो जाति, आयु और भोग के हेतु हैं। ये दोनों प्रकार के संस्कार पिछले जन्मों के भी हमारे चित्त में पड़े हैं, पर वे छिपे हुए हैं, उन में संयम करने से उनका साक्षात्कार होता है, उन के साक्षात्कार से योगी को पूर्वजन्म का वा पूर्व जन्मों का ज्ञान होता है*। उन संस्कारों के साक्षात् करने से जिस देश जिस काल वा जिन निमित्तों से वह संस्कार पड़े हैं, उन सब का ज्ञान हो जाता है, यही पूर्व जन्म का ज्ञान है॥

## प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—( प्रत्ययस्य ) चित्त के ( पर-चित्त-ज्ञानम् ) दूसरे के चित्त का ज्ञान॥

अन्वयार्थ—संयम द्वारा दूसरे के चित्त के साक्षात् करने से दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है।

---

* जैसे अपने संस्कारों के साक्षात् करने से अपने पूर्व जन्म का ज्ञान होता है, वैसे ही दूसेर के संस्कारों के साक्षात् करने से दूसेर के पूर्व जन्म का ज्ञान होता है ( व्यास, वाचस्पति आदि )।

भाष्य—जब योगी दूसरे के चेहरे की अवस्था के देखने से वा उस के वचन से उस के चित्त के भाव को जान कर उस में संयम करता है, तो उस के साक्षात्कार होने से दूसरे के चित्त का भाव प्रत्यक्ष हो जाता है, इस का चित्त दुनिया के रंग में रंगा हुआ है, या वीतराग है इत्यादि रूप से दूसरे के चित्त के सारे धर्मों को जान लेता है।

## नचतत्सालम्बनंतस्याविषयीभूतत्वात्※ ॥२०॥

अर्थ—(न, च,) पर नहीं ( तत ) वह-चित्त ( सा-ऽऽल म्बनम् ) विषय सहित (तस्य) उस के ( अविषयी-भूतत्वात् ) विषय न होने से।

अन्वयार्थ—पर दूसरे का चित्त अपने विषय सहित साक्षात् नहीं होता, क्योंकि वह ( विषयसहितचित्त ) उस का ( संयम का ) विषय नहीं है।

भाष्य—संयम का जो विषय है, संयमद्वारा उसी का साक्षात् होता है। और संयम का विषय वही होता है, जिस को शब्द से वा अनुमान से किसी न किसी तरह पहले जान लिया है। अब बाहर के चिन्ह आदि से दूसरे के चित्त को इतना मात्र जाना है, कि वह राग वाला है, वा वीतराग है, इस लिये संयम करने से उसी का प्रत्यक्ष होता है। किस विषय

※ विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र के विषय में कहा है, 'यह भाष्य ही है'। पर भोज आदि ने इसे अलग सूत्र के तौर पर ही व्याख्या किया है॥

में इस का राग है, शब्द में है, वा रूप में है, और किस शब्द में वा रूप में है, यह किसी चिन्ह से नहीं जाना, और जो जाना नहीं, उस में संयम नहीं हो सकता, और जिस में संयम किया ही नहीं, संयमद्वारा उस का साक्षात् कैसे हो ? इसलिये चित्त के धर्म राग द्वेष आदि साक्षात् होते हैं, राग द्वेष आदि का विषय साक्षात् नहीं होता। हां जब इस के चित्त का विषय क्या है ? इस प्रकार मन को लगाता है, तब उस में संयम होने के कारण उस का भी ज्ञान होता ही है।

## कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः-प्रकाशा सम्प्रयोगे ऽन्तर्द्धानम् ॥ २१ ॥

अर्थ—( काय-रूप-संयमात् ) शरीर के रूप में संयम करने से ( तद्-ग्राह्यशक्ति-स्तम्भे ) उस की ग्राह्यशक्ति के थमने पर ( चक्षुः-प्रकाशा-ऽसम्प्रयोगे ) नेत्र के प्रकाश का सम्बन्ध न होने में ( अन्तर्द्धानम् ) छिपना " होता है " ॥

भाष्य—शरीर पांच भौतिक है, वह रूप वाला है, इस लिये आंख से देखा जाता है। उस के रूप में जब योगी संयम करता है, तब रूप की ग्राह्यशक्ति, ( आंख से देखा जाने की शक्ति ), जिस से रूप वाला शरीर प्रत्यक्ष होता है, थम जाती है, रुक जाती है,* तब योगी का शरीर दूसरे के नेत्र के प्रकाश

* जो कार्य दो वस्तु के मल से होता है, उस में दोनों की शक्ति काम करती है, रसना और रसीली वस्तु के मेल से रस प्रतीत होता है, सो रस के प्रतीत होने में दोनों की शक्ति काम करती है

का ( चाक्षुष ज्ञान का) विषय नहीं होता, इस लिये वह सामने खड़ा हुआ भी दिखलाई नहीं देता ।

इसी प्रकार योगी अपने शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध में संयम करने से उन की भी ग्राह्यशक्ति को रोक देता है, तब उस के पास खड़े भी उस के शब्द को सुन नहीं सकते, उस को छू नहीं सकते इत्यादि ।

## सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमाद परान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—( सोपक्रमं ) आरम्भ सहित ( निरुपक्रमं ) आरम्भ रहित ( च ) और ( कर्म ) कर्म ( तत्-संयमात् ) उस में संयम करने से (अपरान्त-ज्ञानं) मृत्यु का ज्ञान (अरिष्टेभ्यः) अरिष्टों से=उलटे चिन्हों से ( वा ) अथवा ।

अन्वयार्थ—कर्म सोपक्रम और निरुपक्रम दो प्रकार का है, उस में संयम करने से मृत्यु का ज्ञान होता है अथवा अरिष्टों

---

रसना की ग्रहण करने की शक्ति और रस की ग्रहण किया जाने की शक्ति । दोनों में से एक की भी शक्ति अपना काम न करे, तो रस का अनुभव नहीं होगा, जैसे दोनों के अलग २ रहने पर रस का अनुभव नहीं होता । इसी प्रकार रूप वाली वस्तु के देखने में भी दोनों शक्तियें काम करती हैं, आंख की ग्रहणशक्ति और वस्तु की ग्राह्यशक्ति । शरीर में यह ग्राह्यशक्ति रूप के सम्बन्ध से है, योगी उस में संमय करके इस शक्ति को रोक देता है, इसलिये उसका प्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे दोनों ( आंख और शरीर ) के अलग रहने पर प्रत्यक्ष नहीं होता ॥

से मृत्यु का ज्ञान होता है ॥

भाष्य—जिन कर्मों का फल यह आयु है, अर्थात् जो इस जन्म में भोगते हैं, उन में से जो कर्म अपना काम कर रहे हैं ( बहुत कुछ फल दे चुके हैं, और कुछ थोड़ा सा शेष है ) वह सोपक्रम हैं। और जिन का काम शेष है ( अधिकफलदेना शेष है ) वह निरुपक्रम हैं। उन दोनों प्रकार के कर्मों में संयम करने से योगी को उन का साक्षात् होने से योगी यह जान लेता है, कि उस का कितना आयु शेष है।

अथवा अरिष्टों के देखने से यह प्रतीत होता है, कि अब मृत्यु निकट है । अरिष्ट तीन प्रकार के होते हैं-आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक । जब मनुष्य अपने हाथों से कानों को ढांप कर भीतर की ध्वनि को नहीं सुनता है, वा अपने हाथों से आंखों के ढांपने से अन्दर ज्योति के कनके नहीं देखता, यह आध्यामिक अरिष्ट हैं । जब अकस्मात् अपने सामने खड़े हुए अपने मरे हुए पूर्व पुरुषों को देखता है, यह आधिभौतिक अरिष्ट है। जब अकस्मात् सिद्धों को देखता है, यह आधिदैविक अरिष्ट है। इस से जान लेता है, कि उस का मरना निकट है । कभी २ मरने के निकट स्वभाव भी उलटा हो जाता है, कृपण भी अकस्मात् उदार बन जाता है, अविश्वासी को अकस्मात् परलोक में विश्वास हो जाता है,इत्यादि। पहला संयम द्वारा मृत्यु का ज्ञान तो योगी को ही होता है, और दूसरा यह अरिष्टों द्वारा योगी अयोगी दोनों को हो सकता है। तथापि मृत्यु के जानने के प्रसंग में इसका भी वर्णन किया है, और योगी को अरिष्टों से भी अयोगियों की अपेक्षा अधिक

निश्चयात्मक ज्ञान होता है । और देश काल का भी पता लग जाता है, जो अयोगियों को नहीं हो सकता ।

## मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—( मैत्र्या-ऽऽदिषु ) मैत्री आदि में ( बलानि ) बल ॥

अन्वयार्थ—मैत्री आदि में संयम करने से मैत्री आदि के बल प्राप्त होते हैं ॥

भाष्य—पूर्व (१ । ३३) में जो सुखियों में मैत्री, दुखियों पर करुणा और पुण्यात्माओं के विषय में मुदिता का उपदेश दे आए हैं, उन मैत्री, करुणा और मुदिता में साक्षात्कार पर्यन्त संयम करने से योगी का मैत्रीबल करुणाबल और मुदिताबल इतना बढ़ जाता है, कि वह उससे दूसरों का बहुत बड़ा भला कर सकता है । जिन को वह सुखी बनाने के लिये प्रयत्न करता है, उन को सुखी बना देता है, और जिन के दुःख दूर करने के लिये प्रयत्न करता है, उन के दुःख दूर कर देता है । उस का प्रयत्न पूरा फल लाता है, यह तात्पर्य है । यहां मैत्री आदि में उपेक्षा का ग्रहण इस लिये नहीं किया, कि उपेक्षा केवल उदासीनतामात्र है, उस में संयम हो नहीं सकता ॥

## बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

अर्थ—(बलेषु) बलों में "संयम करने से" ( हस्ति-बला-ऽऽदीनि ) हाथी के बल आदि " प्राप्त होते हैं " ॥

भाष्य—जब योगी हाथी के बल में तन्मय होकर साक्षा-

त्कार पर्यन्त संयम करता है, तो उस में हाथी का बल आ जाता है, सिंह के बल में संयम करता है, तो सिंह का बल आजाता है। जिस के बल में संयम करता है, उस के बल का लाभ कर लेता है॥

## प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहित-विप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

अर्थ—( प्रवृत्त्या-ऽऽलोक-न्यासात् ) प्रवृत्ति के प्रकाश के डालने से (सूक्ष्म-व्यवहित-विप्रकृष्ट-ज्ञानम् ) सूक्ष्म, व्यवधान वाली और दूर होने वाली "वस्तु" का ज्ञान " होता है "॥

भाष्य—पूर्व (१ । १६) जो मन की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कही है, उस का जो प्रकाश ( ज्योति ) है, यदि उस प्रकाश को योगी संयम द्वारा किसी सूक्ष्म ( अदृश्य-परमाणु आदि ) पदार्थ पर डालता है, तो वह उसे प्रत्यक्ष हो जाता है। किसी व्यवधान वाली वस्तु ( जैसा भूमि के अन्दर दबी हुई खानें हैं, वा दीवार की ओट में कोई वस्तु है, वा शरीर के अन्दर जो कुछ है, इत्यादि ) पर डालता है, तो वह प्रत्यक्ष हो जाती है, दूर की वस्तु पर ( जहाँ आंख नहीं पहुंचती ) डालता है, तो वह प्रत्यक्ष हो जाती है। आंख द्वारा प्रत्यक्ष करने में जो रुकावटें हैं, वे रुकावटें उस सूक्ष्म प्रकाश को नहीं रोक सकतीं॥

## भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

अर्थ—( भुवन-ज्ञानं ) भुवन का ज्ञान ( सूर्ये ) सूर्य में ( संयमात् ) संयम से " होता है "॥

भाष्य—सूर्य के प्रकाश में साक्षात्कार पर्यन्त संयम करने से योगी को सारे मण्डलों ( भुवनों, कुर्रों ) का यथावत् ज्ञान होता है । पूर्व (३ । २५) सात्विक प्रकाश को आलम्बन करना कहा है, और यहां भौतिक प्रकाश को, यह इन में भेद है ॥

## चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

अर्थ—( चन्द्रे ) चन्द्र में " संयम करने से "( तारा-व्यूह-ज्ञानम् ) तारों के व्यूह का ज्ञान " होता है " ॥

भाष्य—तारों की स्थिति का यथावत् ज्ञान चन्द्र में संयम करने से होता है * ॥

## ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

अर्थ—( ध्रुवे ) ध्रुव में " संयम करने से " ( तद्-गति-ज्ञानम् ) उन की गति का ज्ञान " होता है " ॥

भाष्य—ध्रुव तारे में संयम करने से प्रत्येक तारे की गति का ज्ञान योगी को हो जाता है, अर्थात् इतने काल में यह तारा अमुक राशि अमुक नक्षत्र में जाएगा ॥

## नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥२९॥

अर्थ—( नाभि-चक्रे ) नाभि के चक्र में " संयम करने से" ( काय-व्यूह-ज्ञानम् ) शरीर के व्यूह का ज्ञान होता है ॥

---

* सूर्य के प्रकाश से तारों का तेज मात होता है, इसलिये सूर्य में संयम से तारों का ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव उन के ज्ञान के लिये यह अलग उपाय कहा गया है ॥

भाष्य—नाभिचक्र में संयम करने से योगी शरीर की सारी स्थिति ( जिस रीति पर शरीर में वात, पित्त, कफ़ की और रुधिर आदि धातुओं की स्थिति है ) को जानलेता है ॥

## कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥३०॥

अर्थ—( कण्ठ-कूपे ) कण्ठ के कूप में "संयम करने से" (क्षुत्पिपासा-निवृत्तिः) भूख और प्यास की निवृत्ति "होती है"

भाष्य—घंटिका ( घंडी ) के नीचे गले में जो गढ़ा है, उस में प्राण के सम्बन्ध से भूख और प्यास लगती है, उस कण्ठकूप में संयम करने से योगी को भूख और प्यास बाधा नहीं करती ॥

## कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—( कूर्म-नाड्यम् ) कूर्म नाड़ी में "संयम करने से" ( स्थैर्यम् ) स्थिरता " होती है " ॥

भाष्य—कण्ठ कूप से नीचे छाती में जो कछुए के आकार वाली नाड़ी है, उस में संयम करने से स्थिरता लाभ होती है, जब वह चाहे, तो गोधा ( गोह ) वा सर्प की तरह शरीर को ऐसा अकड़ा सकता है, कि उसे कोई हिला नहीं सकता ॥

## मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥३२॥

अर्थ—( मूर्द्ध-ज्योतिषि ) मूर्धा के ज्योति में " संयम करने से" (सिद्ध-दर्शनम् ) सिद्धों का दर्शन " होता है " ॥

भाष्य—सिर के कपाल में जो ब्रह्मरन्ध्रनामी छेद है, उस

के अन्दर जो चमकती हुई ज्योति है, वह मूर्धज्योति है, उस में संयम करने से सिद्धों* के दर्शन होते हैं॥

## प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

अर्थ--(प्रातिभाद्, वा) अथवा प्रातिभ "ज्ञान" से (सर्वम्) सब कुछ "जान लेता है"॥

भाष्य--जैसे उदय से पहले सूर्य की प्रभा अन्धेरे को दूर करके सारे पदार्थों पर चांदना फैला देती है, इसी प्रकार विवेकज्ञान के उदय होने से पहले योगी के चित्त का प्रातिभ ज्ञान ऐसा निर्मल हो जाता है, कि उस में कोई भ्रान्ति नहीं आती, उस प्रातिभ ज्ञान से योगी जो कुछ जानना चाहता है, उसे जानलेता है॥

प्रातिभ=फुरना। अपने आप चित्त में किसी ज्ञान का आ जाना। यहां 'वा=अथवा' इस लिये कहा है, कि पूर्व जिस २ के जानने के लिये जो २ संयम कहे हैं, उन से उन २ विषयों को जानता है, अथवा प्रातिभज्ञान से सब कुछ जान लेता है॥

## हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

अर्थ--(हृदये) हृदय में "संयम करने से" (चित्त-

---

* द्यौ और पृथिवी के अन्तराल में घूमने वाला जो सिद्ध है, (व्यास भाष्य) द्यौ और पृथिवी के अन्तराल में होने वाले सिद्ध= दिव्य पुरुष जो दूसरे प्राणियों के लिये अदृश्य है योगी उस को देख लेता है (भोजवृत्ति)

संवित्) चित्त का ज्ञान "होता है" ॥

भाष्य—हृदय, चित्त का निवास स्थान है, उस में संयम करने से वृत्तिसहित चित्त का साक्षात्कार होता है ॥

सं०—चित्त ज्ञान के अनन्तर पुरुषज्ञान का उपाय बतलाते हैं ॥

## सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोग परार्थान्यस्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥३५॥

अर्थ—(सत्व-पुरुषयोः) बुद्धि और पुरुष (अत्यन्ता-सङ्कीर्णयोः) जो "आपस में" अत्यन्त भिन्न हैं, उन को (प्रत्यया-ऽविशेषः) प्रतीतियों का अभेद (भोगः) भोग "है" "उन में से" (परार्थऽन्यस्वार्थ-संयमात् *) परार्थ "प्रतीति" से भिन्न जो स्वार्थ "प्रतीति" है, उस में संयम करने से (पुरुष-ज्ञानम्) पुरुष का ज्ञान "होता है" ॥

भाष्य—बुद्धि और पुरुष यद्यपि सर्वथा एक दूसरे से विलक्षण हैं, तथापि बाहर के दृश्य को देख कर बुद्धि जैसा रूप बदलती है वैसा ही पुरुष भी भासता है। बुद्धि शान्त हो, तो पुरुष भी शान्त, घोर हो, तो घोर, मूढ़ हो, तो मूढ़ भासता है। अर्थात् जैसी बुद्धि की वृत्ति होती है, वैसा ही पौरुषेय

---

* वाचस्पति आदि ने "परार्थात् स्वार्थ संयमात्" पाठ पढ़ कर 'अन्य शब्द का अध्याहार करके अर्थ पूरा किया है। पर भोजवृत्ति का पाठ 'परार्थान्य स्वार्थ संयमात्' अध्याहार की अपेक्षा नहीं रखता इसलिये हमने यही पाठ स्वीकार किया है।

बोध होता है (देखो पूर्व १ । २४) यही दोनों प्रतीतियों (बुद्धि वृत्ति और पौरुषेय बोध) का अभेद है । यही भोग है । इन दोनों प्रतीतियों में से जो बुद्धि की प्रतीति अर्थात् वृत्ति है, वह परार्थ दूसरे के लिये=पुरुष के लिये, है । क्योंकि बुद्धि बाहर के दृश्य को देख कर जो अपना रूप बदलती है, वह पुरुष के सामने रख देती है, अब जो पुरुष में उस की प्रतीति (पौरुषेय बोध) होती है, यह किसी दूसरे के लिये नहीं, क्योंकि पुरुष—

## ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वाद-वार्ता जायन्त ॥ ३६ ॥

अर्थ--(ततः) उस से=स्वार्थसंयम के अभ्यास से (प्रातिभ-श्रावण-वेदना-ऽऽदर्शा-ऽऽस्वाद-वार्ताः) प्रातिभ, श्रावण वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता "ज्ञान" (जायन्ते) उत्पन्न होते हैं ॥

भाष्य—स्वार्थ संयम का मुख्य फल पुरुष का ज्ञान है, वह जब तक सिद्ध नहीं होता, उस से पूर्व योगी को यह छः सिद्धियां प्रकट होती हैं ।

प्रातिभ—मन का सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तु को जानने का सामर्थ्य (देखो पूर्व ३३) ॥

श्रावण—श्रोत्र इन्द्रिय का दिव्य शब्द सुनने का समर्थ्य ।

वेदना—त्वचा इन्द्रिय का दिव्य स्पर्श जाननेका सामर्थ्य ।

आदर्श—नेत्र इन्द्रिय का दिव्यरूप देखने का सामर्थ्य ।

वार्ता—घ्राण का दिव्य गन्ध सूघने का सामर्थ्य ॥

अर्थात् उसके पांचों ज्ञानेन्द्रिय और छटा मन एक दिव्य सामर्थ्य वाले बन जाते हैं, जिन से सूक्ष्म विषयों को भी प्रत्यक्ष जान लेता है ॥

सं०—इन सिद्धियों को पाकर ही मनुष्य मग्न न हो जाय, किन्तु आगे पुरुषज्ञान के लिये प्रयत्न करे, इस हेतु से कहते हैं :—

## ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥३७॥

अर्थ—(ते) वे=प्रातिभ आदि ज्ञान (समाधौ) समाधि में (उपसर्गाः) विघ्न "हैं" (व्युत्थाने) व्युत्थान में (सिद्धयः) सिद्धियें "हैं" ॥

भाष्य—इन्द्रियों की दिव्य शक्तियों के उदय होने से उन्हीं में हर्ष और आश्चर्य्य न मान बैठे, जैसे जन्म के कंगले को थोड़ा सा धन मिल जाय, तो बस वह कृतकृत्य हो जाता है। योगी को जानना चाहिये, कि यह तुच्छ सिद्धियां व्युत्थित चित्त के लिये सिद्धियां हैं, समाहितचित्त के लिये तो यह विघ्न हैं, क्योंकि इन में रमने वाला पुरुष परमसिद्धि (पुरुष ज्ञान) को नहीं पा सकता।

सं०—पुरुष दर्शन पर्य्यन्त ज्ञानरूपी ऐश्वर्य्य (विभूतियें) जो संयम का फल हैं, वह दिखला कर अब कर्मरूप ऐश्वर्य्य जो संयम का फल हैं, उन्हें दिखलाते हैं :-

## बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

अर्थ—( बन्ध-कारण-शैथिल्यात् ) बन्ध के कारण की शिथिलता से ( प्रचार-संवेदनात्, च ) और प्रचार="घूमने के मार्गों" के जानने से ( चित्तस्य ) चित्त का ( पर शरीरा-ऽऽवेशः ) दूसरे के शरीर में आवेश "होता है" ॥

भाष्य—मन चञ्चल स्वभाव हो कर भी जो एक शरीर में बन्धा रहता है, इस का कारण पूर्वले कर्म ( धर्म, अधर्म ) हैं, जब योगी बन्ध के कारण उस कर्म को संयम द्वारा ढीला कर देता है, और मन के घूमने की नाड़ियों में संयम करने से उन को प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह चित्त को अपने शरीर से निकाल कर दूसरे शरीर* में डाल सकता है। बन्ध का कारण जो कर्म है, उस के शिथिल हो जाने के कारण निकलने में रुकावट दूर हो जाती है, और उस के मार्गों ( नाड़ियों ) का ज्ञान हो जाने से निर्विघ्न वह एक शरीर से निकाला जा सकता है, और दूसरे में प्रवेश किया जा सकता है। चित्त के अनुसार इन्द्रिय भी दूसरे के शरीर में यथास्थान आवेश करजाते हैं ॥

## उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

अर्थ—( उदान-जयात् ) उदान के जीतने से ( जलपङ्क

---

* दूसेर के मृतक वा जीवित शरीर में ( भोजवृत्ति )

कण्टका-ऽऽदिषु) पानी, कीचड़ और कांटे आदियों में (असङ्ग) असंग "रहता है" (उत्क्रान्तिः;च) और ऊर्ध्वगति "होती हैं"।

भाष्य—मनुष्य के जीवन का आधार प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, ये पांच प्राण हैं। इन में से प्राण सांस लेने का हेतु है, और नासिका के अग्र से हृदय तक अवस्थित है। अपान-मूत्र, पुरीष और गर्भ आदियों के नीचे ले जाने का हेतु है और नाभि से लेकर पादतल तक अवस्थित है। समान आहार के रस को अपने २ स्थान में ठीक २ पहुंचाने का हेतु है और हृदय से लेकर नाभि तक अवस्थित है। उदान-ऊपर उठने का हेतु है और सारे देह में व्यापक है॥

इन में से उदान में संयम करने से जब योगी उदान को जीत लेता है, तो वह पानी में नहीं डूबता, कींचड़ वा कांटे आदि में नहीं फंसता। क्योंकि उदान को वश करके वह अपने आप को रुई की नाईं हलका करके ऊपर उठाए रख सकता है, और दूसरा फल यह होता है, कि मरने के समय उस की ऊर्ध्वगति (शुक्लगति, अर्चि आदि मार्ग से उत्तर मार्ग की गति) होती है॥

## समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

अर्थ—(समान-जयात्) समान के जीतने से (ज्वलनम्) जलना "होता है"॥

भाष्य—जब समान में संयम करने से योगी समान को वश कर लेता है, तो समान के अधीन जो शारीरिक अग्नि है,

उस के उत्तेजित होने से योगी का शरीर अग्नि की नाईं जलता हुआ प्रतीत होता है।

## श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—( श्रोत्राऽऽकाशयोः ) श्रोत्र और आकाश के ( सम्बन्ध-संयमात् ) सम्बन्ध में संयम करने से ( दिव्यम् ) दिव्य ( श्रोत्रम् ) श्रोत्र " होता है " ॥

भाष्य—शब्द के सुनने का साधन श्रोत्र इन्द्रिय है वह भी आकाश के आश्रय है और शब्द भी आकाश के आश्रय है, इन दोनों के सम्बन्ध ( आश्रयाश्रयि भाव=आधाराधेय भाव ) में संयम करने से दिव्य श्रोत्र प्राप्त होता है, जिस से सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट ( दूर स्थित ) शब्द को सुन सकता है ॥

इसी प्रकार त्वचा और वायु, आंख और तेज, रसना और जल, घ्राण और पृथिवी के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण प्राप्त होते हैं। पूर्व ३६ सूत्र में भी यह सिद्धियां पुरुष ज्ञान से पहिले होने वाली दिखलाई हैं। यहां ये संयमसाध्य भी हैं, यह दिखलाया है ॥

## कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूल समापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥४२॥

अर्थ—( काया-ऽऽकाशओः ) शरीर और आकाश के ( सम्बन्ध-संयमात् ) सम्बन्ध में संयम करने से ( लघु-तूल-

समापत्तेः, च ) और हलके रुई " आदि " में समापत्ति से ( आकाश-गमनम् ) आकाश गमन " होता है " ॥

भाष्य—जहां शरीर है, वहां उसे अवकाश देने वाला आकाश है, उस आकाश से जो शरीर का सम्बन्ध ( प्राप्ति, संयोग ) उस में संयम करने से, वा हलकी जो रुई आदि वस्तुएं आकाश में उड़ने वाली हैं, उन में ध्यान द्वारा तन्मय हो जाने ( समापत्ति ) से योगी अतिलघुभाव ( हलकेपन ) को प्राप्त हो कर आकाशगमन को प्राप्त होता है ।

## बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

अर्थ—(बहिः) बाहर ( अ-कल्पिता ) कल्पना न की हुई ( वृत्तिः ) वृत्ति ( महा-विदेहा ) महाविदेहा " है " ( ततः ) उस से ( प्रकाशा-ऽऽवरण-क्षयः ) प्रकाश के आवरण का क्षय " होता है " ॥

भाष्य—मन को शरीर से बाहर धारण करना मन की विदेहा धारणा कहलाती है, यह विदेहा धारणा पहले कल्पित ( कल्पना से, फर्ज़ी ) होती है, फिर अकल्पित ( विना कल्पना के, सचमुच ) होती है । मन शरीर के अन्दर ही स्थित है, पर उसे वृत्तिमात्र से बाह्य विषय में धारण करना कल्पित विदेहा धारणा है । इस धारणाबल के बढ़ने से जब फिर सचमुच ही शरीर से बाहर हुए मन की बाहर की वृत्ति होती है, यह अकल्पिता विदेहा है, इसे महाविदेहा कहते हैं । उन में से पुरुष

कल्पिता के द्वारा अकल्पिता महाविदेहा को साधता है, इस धारणा से योगी के चित्त के प्रकाश को रोकने वाले रजस् तमस् के मूल जो क्लेश कर्म विपाक हैं, वे क्षीण हो जाते हैं, उन के क्षय होने से निरावरण [ बिनारोक ] हुआ योगी का चित्त यथेच्छ विचरता है और जानता है।

सं०—"परिणामत्रय संयमात्" ( ३ । १६ ) से लेकर भिन्न २ संयम और उन की सिद्धियें वर्णन की हैं, अब वितर्क विचारा...(१ । १७) इत्यादि सूत्रों से अपने शास्त्र में जो मुख्य-प्रकृत ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता हैं, उन में जो संयम हैं, उन की सिद्धियें वर्णन करने के लिये पहले ग्राह्य विषय संयम की सिद्धि का वर्णन करते हैं—

## स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्व-संयमाद्भूतजयः ॥४४॥

अर्थ—( स्थूल-स्वरूप-सूक्ष्मा-ऽन्वया-ऽर्थवत्व-संयमात् ) स्थूल स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्व में संयम करने से ( भूत-जयः ) भूतों का जय "होता है" ॥

भाष्य—भूतों के पांच रूप हैं, स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्व। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पांच भूतों का स्थूलरूप यही है, जो यह अपने २ विशिष्ट आकार वाला हमारे सामने है। दूसरा स्वरूप—यथाक्रम गन्ध, स्नेह, उष्णता, कम्पाना और अवकाश देना, यह अपने २ नियत धर्म, जिन से पृथिवीत्व आदि जाने जाते हैं । तीसरा सूक्ष्म रूप—

यथाक्रम गन्धतन्मात्र, रसतन्मात्र, रूपतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, और शब्दतन्मात्र, जो इन स्थूल भूतों का कारण हैं। **अन्वय-रूप**-सत्व रजस्, तमस्, ये तीनों गुण जो अपने प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति धर्मों से सर्वत्र ही अनुगत (मिले हुए, अन्वित हुए) हुए प्रतीत होते हैं। पांचवां रूप **अर्थवत्व** प्रयोजन वाला होना। गुणों में भोग और अपवर्ग के सम्पादन करने की जो शक्ति है, उसी से यह सब भूत भौतिक पुरुष के भोग और अपवर्ग (रूप प्रयोजन) के सम्पादन में लगा है। इन पांचों रूपों में साक्षात्कार पर्यन्त संयम करने से योगी पांचों भूतों को अपने वश में कर लेता है, आप उनके वश में नहीं रहता॥

## ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्धर्मानभिघातश्च ॥४५॥

अर्थ—(ततः) उस से=भूतजय से (अणिमादि-प्रादुर्भावः) अणिमा आदि का प्रादुर्भाव, (काय-सम्पत्) शरीर की सम्पदा (तद्-धर्मा-ऽन भिघातः, च) और उन के धर्मों से रुकावट नहीं होती।

भाष्य—अणिमा =सूक्ष्म हो जाना, **लघिमा** =हलका हो जाना, महिमा =बड़ा हो जाना, प्राप्तिः पहुंच, **प्राकाम्यम्** =इच्छा में रोक न होना, वशित्व =वश में करना, **ईशितृत्व** =मालिक होना, यत्रकामावसायित्व = सत्य संकल्प होना। यह अणिमा आदि आठ सिद्धियां भूतों के जीतने से योगी को प्राप्त होती हैं, और कायसम्पत् (शरीर की सम्पदा) भी जो

अगले सूत्र में कहेंगे, भूतजय से प्राप्त होती है, और भूतों के धर्म योगी के विरुद्ध रुकावट नहीं डालते।

सं०—शरीर की सम्पदा कहते हैं :—

## रूपलावण्य बल वज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ४६ ॥

अर्थ—(रूप-लावण्य-बल-वज्रसंहननत्वानि) रूप, लावण्य बल, और वज्र की सी बनावट (काय-सम्पत्) शरीर की सम्पदा है ॥

भाष्य—जिस योगी ने भूतों को जीत लिया है, उस का रूप दर्शनीय हो जाता है, सारे अंगों में लावण्य (कान्ति=झलक) प्रतीत होती है, बल बहुत बड़ा हो जाता है और शरीर की बनावट वज्र के तुल्य दृढ़ हो जाती है। यह चारों शरीर के ऐश्वर्य हैं।

सं०—ग्राह्य में संयम की सिद्धियें दिखलाकर अब ग्रहण में संयम की सिद्धियें दिखलाते हैं—

## ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

अर्थ—(ग्रहण-स्वरूप-ऽस्मिता-ऽन्वयार्थवत्त्व-संयमात्) ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, और प्रयोजनवत्ता में संयम करने से (इन्द्रिय-जयः) इन्द्रियों का जय "होता है" ॥

भाष्य—नेत्र आदि इन्द्रियों से रूपादि विषयों का जानना

ग्रहण, नेत्रत्व (नेत्रपना) आदि जो उन का समान्यरूप है वह स्वरूप, उनका कारण जो सात्विक अहङ्कार है, वह अस्मिता, उस में तीनों गुणों का अनुगत होना अन्वय, और भोग और अपवर्ग के लिये होना यह प्रयोजनवत्ता है *। इन्द्रियों के इन पांचों रूपों में साक्षात्कार पर्यन्त संयम करने से इन्द्रिय वशीभूत होते हैं ॥

तीनों गुणों का परिणाम दो रूपों से होता है, एक ग्राह्यरूप से दूसरा ग्रहणरूप से। ग्राह्यरूप से महाभूतों की उत्पत्ति होती है जिस के (पूर्व ४४ सूत्र में) पांच रूप और उन के संयम से भूतजय दिखलाया है। ग्रहणरूप से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। भूतों का कारण पञ्चतन्मात्र हैं और इन्द्रियों का कारण अस्मिता। और पञ्चतन्मात्र, और अस्मिता यह दोनों ही तीनों गुणों का परिणाम हैं। तीनों गुणों की प्रवृत्ति भोग और अपवर्ग के लिये है, इस लिये सृष्टि के दोनों रूपों (ग्राह्य और ग्रहण) में भोग और अपवर्ग का प्रयोजन "प्रोया हुआ है" ॥

सं०—इन्द्रियजय का फल कहते हैं—

**ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥**

अर्थ—(ततः) उस से=इन्द्रियजय से (मनो-जवित्वम्)

---

* सविस्तर देखो पूर्व सूत्र ४४ ॥

मनो जवित्व ( विकरणभावः ) विकरणभाव (प्रधान जयः, च) और प्रधानजय " प्राप्त होता है " ॥

भाष्य--इन्द्रियों के जय से यह फल प्राप्त होते हैं—

**मनोजवित्व**—अपने २ विषयों के ग्रहण करने में सारी इन्द्रियां मन की तरह वेग वाली बन जाती हैं * ॥

**विकरणभाव**—शरीर की परवाह के विना भी इन्द्रियों में काम करने की शक्ति हो जाती है ।

**प्रधानजय**—सब प्रकृति और विकार पर अपना वश हो जाता है यह तीनों सिद्धियां **मधुप्रतीका** कही जाती हैं ॥

यह सिद्धियां इन्द्रियों के पूर्वोक्त पांचों रूपों के जय से प्राप्त होती हैं ॥

सं०—क्रम प्राप्त गृहीतृसंयम की सिद्धि कहते हैं-

## सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

अर्थ –( सत्व-पुरुषा-ऽन्यताख्याति-मात्रस्य ) बुद्धि और पुरुष के भेद ज्ञान वाले को ( सर्व-भावा-ऽधिष्ठातृत्वम् ) सारे भावों का मालिक होना ( सर्व-ज्ञातृत्वम् ) सब का जानने वाला होना, " प्राप्त होता है " ॥

---

* मनोजवित्व का अर्थ सारे व्याख्याकारों ने यही लिखा है, कि मन की तरह शरीर की उत्तम गति हो जानी । हमारा अर्थ इन्द्रियों के सम्बन्ध को लिये हुए है ।

भाष्य—जब योगी बुद्धि और पुरुष के भेद को जान लेता है, तो वह सारे बाहरी और भीतरी भावों का मालिक बन जाता है। काम क्रोध आदि भाव और बाहर के सौन्दर्य उस को अपने बस में नहीं कर लेते, अपितु यह उन को अपने नियम में चलाता है । और लोक में कोई ऐसा पदार्थ नहीं होता, जिस के वह तत्त्व को न जानता हो।

यही दोनों प्रकार की सिद्धि विशोका नाम है । इस को पाकर योगी क्लेश और कर्मों के बन्धन से मुक्त हो कर और सब के तत्त्व का जानने वाला हो कर शोक से परे पहुंचा हुआ विचरता है।

सं०—विवेकख्याति का अवान्तर फल कह कर मुख्य फल कहते हैं—

## तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥५०॥

शब्दार्थ—( तद्-वैराग्यात् ) उस के वैराग्य से ( अपि ) भी ( दोषबीज-क्षये ) दोषों के बीज क्षय होने पर ( कैवल्यम् ) कैवल्य " होता है " ॥

अन्वयार्थ—उस के वैराग्य से दोषों के बीज का क्षय होने पर कैवल्य भी होता है ॥

भाष्य—बुद्धि भिन्न है और पुरुष भिन्न है, यह विवेक-ख्याति भी बुद्धि का ही धर्म है, बुद्धि का परिणाम है, पुरुष का अपना निज रूप यह नहीं । इस लिये अपने निजरूप में अवस्थित होने के लिये इस विवेकख्याति से भी वैराग्य उत्पन्न होता है, इसी को परवैराग्य कहा है। जब यह वैराग्य उदय

होता है, तब अविद्या आदि क्लेशों के जो बीज हैं, अर्थात् अविद्या आदि के संस्कार, वह दग्ध हो कर चित्त के साथ ही क्षीण हो जाते हैं । उन के क्षीण होने पर आत्मा के सामने बाहर का दृश्य नहीं रहता, अब पुरुष गुणों के अन्दर नहीं रहा, गुणों से अलग हो गया है, अकेला हो गया है, यह कैवल्य है ॥

सं०—योग का मार्ग ऐसा है, कि ज्यों २ पुरुष इस में आगे बढ़ता है, त्यों २ उस के सामने बड़ी २ विभूतियें और बड़े दिव्य विषय उपस्थित होते हैं । इन को पाकर योगी इन्हीं में न रम रहे, इस के लिये उसे सावधान करते हैं

## स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

अर्थ—( स्थान्युपनिमन्त्रणे ) स्थान वालों के आदर भाव करने पर ( सङ्ग-स्मया-ऽकरणम् ) लगाव और अभिमान नहीं करना चाहिये ( पुनः ) फिर ( अनिष्ट-प्रसङ्गात् ) अनिष्ट के प्रसंग से=अनिष्ट के व्यापने के डर से ॥

भाष्य—योग मार्ग का परम पद ( मन्ज़लेमकसूद ) कैवल्य है । वहां तक पहुंचने में मध्य के स्थान ( रास्ते की मनज़लें ) भी बड़े रमणीय और सुहावने हैं, जिन को देख कर पुरुष चकित हो जाता है । यह सम्भव है, कि पुरुष एक छोटी महिमा से जो अभी ऊपर बढ़ा है, इस बड़ी महिमा को देख कर इसी में रम जाए । क्योंकि उस ने अभी तक इन्द्रियों को जीत नहीं लिया है । यह सम्भव है, कि इन दिव्य विषयों में

उस का लगाव हो जाय। यह दिव्य प्रलोभन पुरुष को आगे बढ़ने से रोकते हैं। और बहुत से लोग हैं, जो यहां ही अटके पड़े हैं, वह इन २ स्थानों के मालिक कहलाते हैं। ज्यों २ योगी इन स्थानों पर पहुंचता है, उस को वह पहले योगी जो यहां रुके हुए हैं, बड़े सत्कार से बुलाते हैं। और अपने २ दिव्य विषयों का प्रलोभन देते हैं। योगी को चाहिये कि उन के आदर और उस दिव्य महिमा को देख कर उन में फंस न जाए किन्तु फंसने के इन दोषां पर ध्यान दे, कि जन्म और मरण के अन्धकार में बार २ घूमते हुए मैंने बड़ी कठिनता से यह योग का दीपक प्राप्त किया है जिस से अब क्लेशों का अन्धेरा मिट जाएगा। परन्तु यह विषय की आंधियें जो तृष्णा से उठती हैं यह उस दीपक को बुझा देने वाली हैं, तो क्यों मैं अब इस प्रकाश को पाकर इसी विषय मृगतृष्णा से धोखा खाकर फिर उसी अंधेरे गढ़े में गिरूं। तब वह ज़ोर से कहेगा, जाओ हे विषयो तुम जो स्वप्न के सदृश हो, तुम्हें जो कृपण जन चाहते हैं, उन के पास जाओ। जाओ तुम्हारा भला हो। अब मैं तुम्हारा संगी नहीं हूं। इस प्रकार निश्चितमति हो कर समाधि भावना में लग जाए। इस प्रकार संग दोष से बच कर अभिमान को भी दूर रक्खे, कि इस प्रकार मैं देवताओं का भी प्रार्थनीय बन गया हूं। क्योंकि इस हैरानी से वह अपने आप को बहुत बड़ा मानता हुआ प्रमाद में फंस जावेगा। और यह प्रमाद उस के क्लेशों को फिर उभार देगा। और वह फिर नीचे गिर जाएगा। इस प्रकार से जब वह लगाव और हैरानी के वश में नहीं आता, तब वह आगे बढ़ता है। जो कुछ उस

का जाना हुआ है वह दृढ़ होता है और जो जानना शेष है उस के वह निकट होता है।

योगी चार प्रकार के होते हैं प्राथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञा ज्योति और अतिक्रान्तभावनीय। इन में से पहिला वह है जो अभी नया २ योग में लगा है और सवितर्क समाधि वाला है। दूसरा वह है जो निर्वितर्क समाधि के द्वारा मधुमतीभूमि नामी ऋतम्भरा प्रज्ञा को पाकर भूत और इन्द्रियों को जीतना चाहता है। तीसरा वह है जिसने भूत और इन्द्रियों को जीत लिया है और स्वार्थ संयम से विशोका और संस्कारशेषा इन दो भूमियों को साधना चाहता है। चौथा वह है जो मधुमती, मधुप्रतीका और विशोका इन तीनों भूमियों में विरक्त है। जिसने और सब कुछ साध लिया है केवल चित्त का लय करना बाकी है जो सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा वाला है। इन में से पहले प्रकार के योगी को तो स्थानपति नहीं बुलाते हैं, क्योंकि वह अभी उन के बुलाने के योग्य नहीं है। और तीसरा भूत और इन्द्रियों को जीत चुका है इस लिये वह भी उन के प्रलोभन में नहीं आता। और चौथा सर्वथा ही विरक्त है बाकी जो दूसरा ऋतम्भरा प्रज्ञा वाला है उस को वह स्थानपति प्रलोभन देते हैं, उसे चाहिये कि इन प्रलोभनों से ऊंचा रह कर अपने परम लक्ष्य को लक्ष्य में रक्खे।

सं०—इसी विवेकख्याति के विषय में पूर्वोक्त संयम से भिन्न और उपाय बताते हैं—

**क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम्।५२।**

अर्थ—( क्षण-तत्-क्रमयोः ) क्षण और उन के क्रम में

( संयमात् ) संयम करने से ( विवेकजं, ज्ञानं ) विवेकजज्ञान "होता है" ॥

भाष्य—क्षण काल का वह सब से छोटा हिस्सा है जिस से छोटा कोई और हो नहीं सकता इस प्रकार के काल के क्षणों का आगे पीछे का जो सिलसिला है वह क्रम है। इन दोनों में संयम करने से विवेकज ज्ञान उत्पन्न होता है। यह आशय है कि यह काल का क्षण पूर्व काल के क्षण से पीछे का है और दूसरे से पहले का है। इस प्रकार के क्रम में जब संयम किया जाता है तो इस अत्यन्त सूक्ष्म क्षणों के क्रम का साक्षात्कार हो जाता है अर्थात् काल के इतने सूक्ष्म क्षणों को और उस के सिलसिले को अलग २ निश्चय कर लेता है। इतने अतिसूक्ष्म क्षण और उन के सिलसिले को साक्षात् करने से योगी को प्रत्येक सूक्ष्म वस्तु के अलग २ साक्षात् करने का सामर्थ्य मिल जाता है जिस से वह बड़े सूक्ष्म से सूक्ष्म भेदों को साक्षात् कर लेता है।

विवेकज ज्ञान यह योग का पारिभाषिक शब्द है जिस का लक्षण आगे ५४ सूत्र में करेंगे।

सं०—यद्यपि यह विवेकजज्ञान सब पदार्थों को एक साथ अलग २ दर्शा देता है, तथापि अतिसूक्ष्म होने से पहले उस का उदाहरण दिखलाते हैं—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्
तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥५३॥

अर्थ—( जाति-लक्षण-देशैः ) जाति लक्षण और देश से ( अन्यता-ऽनवच्छेदात् ) भेद का निश्चय न होने से (तुल्ययोः) दो तुल्यों की ( ततः ) उस से=विवेकजज्ञान से ( प्रतिपत्तिः ) निश्चय " होता है " ॥

भाष्य—पदार्थों के भेद के हेतु जाति लक्षण और देश होते हैं । जैसे एक ही जगह पर एक ही रंग की गौ और घोड़ी बन्धी हो, तो उन का वहां भेद करने वाली उन की जाति है । इसी प्रकार काली और सफेद दो गौएं एक ही जगह पर बांधी हों, तो उनका भेद करने वाला उन का लक्षण ( कालापन और श्वेतपन ) है और यदि एक ही रंग की दो गौएं भिन्न २ जगह पर बंधी हों, वहां उनका भेद करने वाला देश है । जहां फिर एक जैसी दो चीज़ों में जाति लक्षण और देश से भेद नहीं किया जा सकता, वहां भेद की प्रतीति इस विवेकज ज्ञान से होती है । जैसे पृथिवी के दो श्वेत परमाणु एक ही जगह में स्थित हों, तो उन के भेद जानने के लिये जब योगी संयम करता है तो उस को यह भेदज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है । अभिप्राय यह है कि जहां किसी उपाय से भेद का निश्चय नहीं हो सकता, वहां संयम द्वारा भेद की प्रतीति अवश्य हो जाती है ।

सं—जिस विवेकजज्ञान का यह फल दिखलाया है, उस का लक्षण कहते हैं—

**तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयम-**
**क्रमञ्चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥५४॥**

अर्थ—(तारकं) तारने वाला "अगाधसंसारसागर से" (सर्व-विषयं) सब को विषय करने वाला (सर्वथा-विषयं) सब प्रकार से विषय करने वाला (अक्रमं) बिना क्रम के-एक साथ (विवेकजं, ज्ञानम्) विवेकज ज्ञान "है"।

भाष्य—विवेकज ज्ञान वह है, जो बिना उपदेश के अपनी प्रतिभा से ही प्रकट हुआ है। और सब वस्तुओं को सब अवस्थाओं में एक साथ इस प्रकार साफ़ २ दिखला सकता है, जैसा कि हाथ पर आमला।

यह विवेकजज्ञान पूर्ण ज्ञान समझा जाता है। कोई वस्तु इस का अविषय नहीं रहती। संप्रज्ञात योग इसी का एक अंश है॥

सं०—क्या जिस को विवेक ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, उस का कैवल्य नहीं होता ? इस विषय में कहते हैं—

## सत्व पुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यमिति।५५।

अर्थ—(सत्व-पुरुषयोः) बुद्धि और पुरुष के (शुद्धि-साम्ये) शुद्धि के बराबर होने पर (कैवल्यम्) कैवल्य "होता है" (इति *)॥

भाष्य—जब बुद्धि रजस् और तमस् की मैल से साफ़ हो जाती है, तो वह पुरुष का साक्षात्कार कराने के योग्य हो जाती है। तब बुद्धि पुरुष की तरह शुद्ध हो जाती है। इस अवस्था में कैवल्य होता है। यह कैवल्य बुद्धि और पुरुष की भेद प्रतीति से होता है। चाहे वह इस पाद में कही हुई विभू-

---

* इति, पाद की समाप्ति के लिये है।

तियों को लाभ करने के पीछे हो। और चाहे इन को लाभ किये विना ही हो। यह आवश्यक नहीं, कि इन भिन्न२ संयमों के द्वारा भिन्न २ विभूतियों को लाभ करने के पीछे ही पुरुष कैवल्य को लाभ करे, किन्तु कैवल्य लाभ के लिये बुद्धि और पुरुष का विवेकजज्ञान होना ही आवश्यक है। इस ज्ञान से अविद्या दूर हो जाती है और फिर अविद्या के दूर होने से दूसरे क्लेश नहीं रहते, क्लेशों के न रहने से कर्म उस के जन्म का अरम्भ नहीं करते। तब इस अवस्था में गुण सारे चरितार्थ हो कर फिर पुरुष का दृश्य बनकर उस के सामने नहीं आते। यही पुरुष का कैवल्य है। इस अवस्था में पुरुष अपने स्वरूप-मात्र ज्योति वाला निर्मल और केवली होता है।

**अत्रान्तरङ्गान्यङ्गानि परिणामाः प्रपंचिताः।**
**संयमाद् भूतिसंयोगस्तासु ज्ञानं विवेकजम् ॥**

यहां योग के अन्तरङ्ग अङ्ग तीनों परिणाम और भिन्न२ संयमों की विभूतियें सविस्तर बतलाई हैं और उन विभूतियों में विवेकजज्ञान को स्पष्ट किया है।

* ओ३म् *

# कैवल्यपादः ॥ ४ ॥

पहले पाद में समाधि, दूसरे में उस के साधन, और तीसरे में उन की विभूतियें बतला कर अब समाधि का फल कैवल्य बतलाने के लिये नया पाद आरम्भ करते हैं। पर कैवल्य का निर्णय चित्त और चिति के अधीन है। इस लिये कैवल्य के उपयोगी चित्त का निर्णय करने के लिये पहले पांच प्रकार की सिद्धियें बतलाते हैं-

## जन्मौषधिमन्त्र तपः समाधिजाः सिद्धयः ।१।

अर्थ—( जन्मौषधि-मन्त्र-तपः-समाधिजाः ) जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि से उत्पन्न होने वाली (सिद्धयः) सिद्धियें "हैं" ॥

भाष्य--सिद्धियें पांच प्रकार की हैं (१) जन्मजा सिद्धि वह सिद्धियें जिन की उत्पत्ति में केवल जन्म ही निमित्त है। जैसा कपिलादि को जो पूर्व जन्मों के पुण्य के प्रभाव से इस जन्म में सांसिद्धिक ज्ञान उत्पन्न हुआ।

२ ओषधिजा-जैसे पारे आदि रसायन के उपयोग से सिद्धि होती है।

३ मन्त्रजा-स्वाध्याय से इष्ट देवता का संयोग होता है यह ( २ । ४४ में ) जो सिद्धि पूर्व कही है।

४ तपोजा-तप से अशुद्धि के क्षय होने से शरीर और

इन्द्रियों की शुद्धि होती है। यह (२।४३) में जो सिद्धि पूर्व कही है॥

५ समाधिजा- वह सिद्धियें जो पूर्व विभूतिपाद में कही हैं॥

सं०--मन्त्र तप और समाध्यादि से जो सिद्धियें कही हैं, वह सिद्धियां यही हैं कि शरीर और इन्द्रियों में विलक्षण शक्ति आ जाय, वा पहिली जाति से दूसरी जाति में बदल जायें। पर यह केवल मन्त्र आदि से कैसे सिद्ध हो सकती हैं, इस विषय में कहते हैं:-

## जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥२॥

अर्थ--(जात्यन्तर-परिणामः) दूसरी जाति में बदल जाना (प्रकृत्या-ऽऽपूरात्) प्रकृतियों के भरने से "होता है"॥

भाष्य—शरीर और इन्द्रियों का विलक्षण शक्ति वाला होना वा बदल जाना अपने २ उपादान कारणों (प्रकृति) के बदलने से होता है। शरीर की प्रकृति पांच भूत हैं, इन्द्रियों की प्रकृति अस्मिता है। योगी के शरीर और इन्द्रियों के पहले अवयव अलग हो २ कर ज्यों २ उन की जगह दूसरे सात्त्विक अवयव भरते चले जाते हैं। त्यों २ उस का शरीर, इन्द्रिय विलक्षण शक्ति वाले बन जाते हैं। इसी तरह उस २ जाति के अनुकूल अवयव भरने से दूसरी जाति बदल जाती है। उन के इस तरह पर बदलने में निमित्त योगज धर्म है, जिस को योगी मन्त्र, तप आदि से सिद्ध करता है।

सं०--(प्रश्न) क्या धर्म जो कि ऐसे परिणाम में निमित्त

है वह शरीर और इन्द्रियों की प्रकृतियों को इस परिणाम के लिये प्रेरता है अथवा केवल उस रुकावट को दूर करता है, जो उनके ऐसा परिणाम होने में है ? इस विषय में कहते हैं:-

## निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां, वर्णभेदस्तु ततः, क्षेत्रिकवत् ॥३॥

शब्दार्थ—( निमित्तं ) निमित्त ( अप्रयोजकं ) प्रयोजक नहीं है ( प्रकृतीनां ) प्रकृतियों का ( वर्णभेदः ) रुकावट का तोड़ना ( तु ) किन्तु ( ततः ) उस से ( क्षेत्रिकवत् ) किसान की तरह ॥

अन्वयार्थ—धर्मादि निमित्त प्रकृतियों का प्रेरक नहीं होता, किन्तु उस से केवल रुकावट दूर होती है जैसे किसान ( रुकावट को दूर करता है ) ॥

भाष्य—जैसे किसान एक खेत से जब दूसरे खेत में पानी ले ज़ाना चाहता है, तो उस पानी को वह हाथों से खींच कर नहीं लेजाता, किन्तु दूसरे खेत का मुहाना जो बंद है उसे खोल देता है, तब पानी अपने आप बह कर उस कियारी को भर देता है, इसी प्रकार रुकावट के टूटते ही प्रकृतियें अपने आप ही अपने २ कार्य को नये अवयवों से भर देती हैं ॥

धर्म की तरह अधर्म भी प्रकृतियों की प्रवृत्ति में हेतु होता है। जब धर्म, अधर्म की रुकावट को दूर करता है, तब उन का शुद्ध परिणाम होता है, और जब अधर्म, धर्म को दबाता है, तब मलिन परिणाम होता है।

सं०—निर्माण चित्तों का कारण बतलाते हैं-

## निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥४॥

अर्थ—( निर्माण-चित्तानि ) निर्माण चित्त ( अस्मिता-मात्रात् ) अस्मिता मात्र से ॥

अन्वयार्थ--निर्माण चित्त अस्मितामात्र से प्रकट होते हैं ॥

सं०--भिन्न २ चित्तों का अभिप्राय भिन्न २ होने से वह मिल कर एक कार्य के करने वाले कैसे बन सकते हैं ? इस का उत्तर देते हैं-

## प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥५॥

अर्थ--( प्रवृत्ति-भेदे ) प्रवृत्ति के भेद में ( प्रयोजकम् ) प्रेरने वाला ( चित्त ) चित्त ( एकं ) एक ( अनेकेषाम् ) अनेकों का " होता है " ।

भाष्य--जैसे अपने शरीर, मन, नेत्र और हाथ आदि को एक चित्त प्रेरता है वह सारे एक चित्त के अधीन काम करते हैं । इसी प्रकार वह सारे चित्त एक चित्त के अधीन काम करते हैं अर्थात् उन सारे चित्तों पर एक चित्त अधिष्ठाता होता है । जिस के अधीन वह सारे चित्त काम करते हैं और वह अधिष्ठाता चित्त वही पहला चित्त है जो उसे स्वभावतः प्राप्त है दूसरे सब उस के अपने रचे हुए हैं ।

सं०—इस प्रकार जन्म आदि से उत्पन्न होने वाली पांच प्रकार की सिद्धियें कही हैं । चित्त भी उस के अधीन पांच

ही प्रकार का होता है। अब उन पांच प्रकार के सिद्ध चित्तों में से अपवर्ग के उपयोगी चित्त का निर्णय करते हुए कहते हैं-

## तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥६॥

अर्थ--( तत्र ) उन में से ( ध्यान-जं ) ध्यान से उत्पन्न होने वाला "चित्त" ( अनाशयं ) वासनाओं से रहित "होता है" ॥

भाष्य—पांच प्रकार का निर्माण चित्त होता है, उन में से जो ध्यान ( समाधि ) से उत्पन्न हुआ चित्त है, वह चित्त क्लेश और कर्मों की वासना से रहित होता है वही अपवर्ग का भागी है, दूसरे चित्तों में कर्म की वासना और क्लेशों की वासना बनी रहती है।

सं०—अयोगियों की तरह योगी भी जब कर्म करते हुए देखे जाते हैं तो उन के चित्त में कर्मों की वासना क्यों नहीं उत्पन्न होती ? इसी विषय में कहते हैं-

## कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥७॥

अर्थ--( कर्म ) कर्म ( अशुक्ला-कृष्णं ) न शुक्ल न कृष्ण ( योगिनः ) योगी का ( त्रिविधं ) तीन प्रकार का ( इतरेषां ) दूसरों का ॥

अन्वयार्थ—योगी का कर्म अशुक्लाकृष्ण ( न शुक्ल न कृष्ण ) होता है, दूसरों का तीन प्रकार का होता है।

भाष्य—कर्म चार प्रकार का है कृष्ण, शुक्ल, शुक्लकृष्ण और अशुक्लाकृष्ण ॥

कृष्ण, पापरूप कर्म-किसी को हानि पहुंचाना इत्यादि ॥

शुक्ल, पुण्य कर्म-तप स्वाध्याय और ध्यानादिक ॥

शुक्लकृष्ण, मिश्रित कर्म-जिस में बहुत सों को लाभ और किसी को हानि होती है।

अशुक्लाकृष्ण, न पाप न पुण्य-अर्थात् फल की कामना को त्याग कर जो पुण्य कर्म किये हैं।

इन में से अशुक्लाकृष्ण कर्म योगियों का होता है। क्योंकि वे अपने कर्मों को ईश्वर के समपर्ण करके करते हैं। इस लिये उन का कर्म शुक्ल नहीं कहलाता, और न ही उन के कर्म में क्लेशों की वासनाएं कारण हैं, क्योंकि उनके क्लेश दग्ध हो गए हैं, इस लिये उन का कर्म उन के चित्त में कोई वासना उत्पन्न नहीं करता। दूसरे लोगों का कर्म तीन प्रकार का होता है ओर वह चित्त पर वासनाएं उत्पन्न करता है।

सं०—( प्रश्न ) योगियों से भिन्न लोगों के चित्त में जब वासनाएं बनी रहती हैं, तो एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने में वह सब की सब वासनाएं क्यों नहीं प्रकट हो जातीं, और यदि सारी वासनाएं एक ही जन्म में प्रकट हो जाएं, तो मनुष्य अनादिकाल से जिन २ योनियों में से हो कर आया है उन सब की वासनाएं प्रकट हो कर उन सारी जातियों की चेष्टा करने लगे और उन सारी जातियों के भोग भोगने लगे? इसका उत्तर देते हैं—

## ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्ति-र्वासनानाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—( ततः ) उस से=कर्म से ( तद्विपाका-ऽनुगुणानां, एव ) उस के फल के अनुकूल ही ( अभिव्यक्तिः ) अभिव्यक्ति=प्रकटता ( वासनानां ) वासनाओं की।

अन्वयार्थ—उस से उस के फल के अनुकूल ही वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है।

भाष्य—कर्म जब फलता है तो वह जैसा फल आरम्भ करता है उस के अनुकूल ही सारी वासनाएं प्रकट होती हैं, जो अनुकूल नहीं वे प्रकट नहीं होतीं, दबी रहती हैं। जब कर्मों का फल मनुष्यजन्म है, तो वासनाएं भी वही प्रकट होती हैं जो मनुष्य जन्म की हैं, इसलिये मनुष्य मनुष्य के से ही भोग भोगता है और मनुष्यों की सी ही चेष्टाएं करता है। यद्यपि इस जन्म से पहले उस ने मनुष्य से भिन्न जन्म भी अनुभव किये हैं, पर उन की वासनाएं इस समय दबी हुई हैं, वे उस समय प्रकट होंगी यदि फिर मनुष्य नीचे गिर कर उन्हीं जन्मों के योग्य अपने आप को बना दे। क्योंकि कर्म जैसा जन्म देते हैं वैसी ही वासनाओं को प्रकट करते हैं।

सं०—( प्रश्न ) मनुष्य मर कर जब दूसरे जन्म में अपने कर्मफलानुसार किसी पशु के जन्म में चला जाए, जो जन्म कि कई सहस्रों वर्ष पहले कभी उसको मिला होगा, तो वहां तो उस में मनुष्यजन्म की वासनाएं प्रकट होनी चाहियें, न कि पशुजन्म की वासनाएं क्योंकि मनुष्य जन्म तो उसका अभी बीता

है, और पशु जन्म के पीछे कई सहस्र और जन्म हो चुके हैं। भला यह कैसे हो सकता है, कि जो निकट की वासनाएं हैं उनका तो स्मरण न हो और जो इतनी बड़ी दूर की हैं उन का स्मरण हो जाए, इस का उत्तर देते हैं:-

**जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥९॥**

अर्थ—( जाति-देश-काल-व्यवहितानां ) जाति, देश और काल से व्यवधान वाली "वासनाओं का" ( अपि ) भी ( आनन्तर्यं ) अव्यवधान 'है' ( स्मृति-संस्कारयोः ) स्मृति और संस्कार के ( एक-रूपत्वात् ) एक रूप होने से=समान विषयक होने से।

भाष्य—वासनाओं के प्रकट होने में अव्यवधान कारण नहीं होता किन्तु उन का कारण अपना २ अभिव्यञ्जक * होना है। जिस का अभिव्यञ्जक मिल जाता है, वह संस्कार चाहे दूर के हों वा निकट के, स्मृति उत्पन्न कर देते हैं। इसी लिये कोई एक बात जो बहुत दूर काल से अनुभव की हुई है किसी अभिव्यञ्जक के मिलते ही स्मरण आ जाती है, जिस में पुरुष हैरान होता है। आश्चर्य यह कितनी देर की बात मुझे स्मरण आई है ! पर वस्तुतः कोई हैरानी की बात नहीं, उस के संस्कार चित्त में वर्तमान थे। जब उन को कोई अभिव्यञ्जक मिला तभी उन्हों ने स्मृति उत्पन्न करदी। इसी प्रकार जन्मा-

---

* अभिव्यञ्जक—प्रकट करने वाला।

न्तर की वासनाएं भी अपने २ अभिव्यञ्जक के मिलने से प्रकट होती हैं। जब कर्मफल यह हैं, कि मनुष्य अमुक पशु के जन्म में जाए, तो अब वे कर्म उस जन्म की वासनाओं के अभिव्यञ्जक हो जाते हैं, चाहे उस से पहले जन्म और इस जन्म में कितने जन्मों का व्यवधान हो गया है वा दूर देश का व्यवधान हो गया है और काल का भी व्यवधान हो गया है। व्यवधान उन के लिये रुकावट नहीं होता, क्योंकि स्मृति संस्कारों के सदृश उत्पन्न होती है। जैसे संस्कार हों वैसी ही स्मृति होती है। और संस्कार जो कि चित्त में असंख्यात पड़े हुए हैं, उन में से वही स्मृति को उत्पन्न करते हैं, जिन को अभिव्यञ्जक मिल जाता है। और यहां अभिव्यञ्जक उस के वे कर्म हैं जो उस को पशु के जन्म में लाए हैं, इस लिये वह उन्हीं संस्कारों को प्रकट करते हैं दूसरों को नहीं।

सं०--प्रश्न-जो जन्म सब से पहिला होता है, उस में तो किसी पहले जन्म की वासनाएं नहीं होतीं तो उस में सारे जीव जन्तु अपनी २ जाति के योग्य भोग और चेष्टाओं में कैसे प्रवृत्त होते हैं, इस का उत्तर देते हैं-

## तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥१०॥

अर्थ—( तासां ) उन को=वासनाओं को ( अनादित्वं, च ) अनादिता भी " है " ( आशिषः ) इच्छा के (नित्यत्वात्) नित्य होने से।

भाष्य—यह जो अपने सदा रहने की इच्छा हर एक प्राणधारी को है, कि 'ऐसा न हो कि मैं न होऊं, किन्तु मैं

सदा रहूं' यह उस में स्वाभाविक नहीं, क्योंकि वह जन्तु जो अभी उत्पन्न हुआ है और जिस ने इस जन्म में किसी भी प्रमाण से मरने के दुःख को अनुभव नहीं किया। वह भी अपने प्राण बचाने के लिये भागता है। इस भागने का निमित्त मरण के दुःख का ज्ञान है। और यह ज्ञान अनुभव तो हो नहीं सकता, इस लिये स्मृति ही कही जा सकती है, पर स्मृति बिना वासनाओं के नहीं होती, और वासनाएं बिना अनुभव के नहीं होतीं, और मरने का अनुभव उस को इस जन्म में हुआ नहीं, इस लिये पूर्व जन्म का अनुभव बन सकता है, जिस की वासनाएं इस जन्म में भी उस को मौत से बचाने के लिये प्रेरती हैं। पूर्वजन्म में भी उस की ऐसी ही इच्छा थी, उस इच्छा का हेतु उस से पहले जन्म की वासनाएं बन सकती हैं, इस तरह पर हर एक जन्म से पहला जन्म बिना रोक सिद्ध हो जाता है। तब जैसे वासनाएं अनादि हैं इसी तरह जन्म भी अनादि है। कोई भी जन्म सब से पहिला नहीं हो सकता॥

सं०--(प्रश्न) वासनाएं जब अनादि हैं, तो उनका अभाव नहीं होना चाहिये, और वासनाओं के रहते हुए मोक्ष कैसे हो सकता है? इस का उत्तर देते हैं-

## हेतु फलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषाम-भावे तदभावः॥ ११॥

अर्थ—(हेतु-फला-श्रया-लम्बनैः) हेतु फल आश्रय और आलम्बन से (संगृहीतत्त्वात्) संगृहीत होने से (एषां) इन

के=हेतु फल आश्रय और आलम्बन के ( अभावे ) अभाव में (तदभावः) उनका अभाव=वासनाओं का अभाव "होता है" ॥

भाष्य—यद्यपि वासनाएं अनन्त हैं, तथापि वह सब की सब हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन में संग्रहीत हो जाती हैं। अविद्या आदि क्लेश और शुक्ल आदि कर्म वासनाओं के हेतु हैं, जाति, आयु और भोग उन का फल हैं, चित्त आश्रय है। शब्दादि विषय आलम्बन हैं यही सब वासनाओं के सहारे हैं। जब तत्वज्ञान से हेतु आदि का अभाव हो जाता है, तब वासनाओं का भी अभाव हो जाता है।

वासनाओं का मूल क्लेश हैं, जब तक क्लेश बने हैं, तब तक वासनाएं उत्पन्न होती हैं, जब क्लेश नष्ट होते हैं, तो पिछली वासनाएं दग्ध हो जाती हैं, और नई उत्पन्न नहीं होतीं ॥

सं०—जब यह नियम है कि असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का विनाश नहीं होता, तो यह वासनाएं जो कि सद्रूप हैं ये कैसे निवृत्त हो जाएंगी ? उसका उत्तर देते हैं—

## अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभे-दाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

अर्थ—( तीता-ऽनागतं ) भूत और भविष्यत् (स्वरूपतः) स्वरूप से (अस्ति) है ( अध्व-भेदात् ) काल के भेद से (धर्माणां) धर्मों के= कार्यों के।

अन्वयार्थ—भूत और भविष्यत् स्वरूप से वर्तमान हैं क्योंकि धर्मों का काल से भेद होता है।

भाष्य—वासनाओं के विनाश का यह अभिप्राय नहीं कि वे स्वरूप से नाश हो जाती हैं, किन्तु वर्त्तमान अवस्था को छोड़ कर भूत अवस्था में चली जाती हैं। जितने कार्य हैं वे सदा अपने कारण में बने रहते हैं। भेद उन का केवल भूत भविष्यत् और वर्तमान काल के भेद से होता है। जब तक वे भविष्यत् अवस्था में है, तब तक वे अपना कार्य नहीं दिखलाते और फिर जब भूत अवस्था में चले जाते हैं, तब भी अपना कार्य बंद कर देते हैं। इसी प्रकार वासनाओं का भी स्वरूप से नाश नहीं होता किन्तु वे भूतावस्था में हो जाती हैं और इसी लिये अपना कार्य (जाति, आयु और भोग) नहीं दिखलातीं।

सं०—ये सारे धर्म ( कार्य ) असल में क्या हैं? इस विषय का निर्णय करते हैं—

## ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥१३॥

अर्थ—(ते) वे=धर्म ( व्यक्त-सूक्ष्माः ) प्रकट और सूक्ष्म ( गुणात्मानः ) गुणस्वरूप ' हैं '।

भाष्य—जो धर्म वर्तमान हैं वे व्यक्त हैं, जो अतीत और अनागत हैं वे सूक्ष्म हैं। ये सारे धर्म महत्तत्व से लेकर भूत भौतिक तक सब के सब गुणों का सन्निवेश ( तरतीब ) मात्र हैं, इस लिये असल में सारे के सारे गुणस्वरूप ही हैं। गुणों का असली रूप हमारे दृष्टिगोचर नहीं होता। हमारे दृष्टिगोचर जो कुछ है यह सब उन का सन्निवेशमात्र ही है, जैसा कि भगवान् वार्षगण्य का वचन है—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ।

गुणों का असली रूप दृष्टिगोचर नहीं होता, और जो दृष्टिगोचर है वह माया सा है और विनाशि है ( माया सा है, न कि माया । जैसे माया झटपट दूसरे रूप में बदल जाती है, इसी प्रकार ये सारे विकार भी प्रकट होते लीन होते प्रतिक्षण बदलते रहते हैं ) ।

सं०—यदि तीनों गुण सब जगह मूल कारण हैं, तो इन से उत्पन्न हुई वस्तु एक कैसे कहला सकती है जैसा कि एक शब्द एक पृथिवी? इत्यादि इस विषय में कहते हैं–

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

अर्थ—( परिणामै-कत्वात् ) परिणाम के एक होने से ( वस्तु-तत्वम् ) वस्तु की एकता "होती है" ।

भाष्य—यद्यपि गुण तीन हैं, पर वे मिल कर एक परिणाम को उत्पन्न करते हैं जैसे बत्ती, तेल और अग्नि मिल कर के एक दूसरे को सहायता देते हुए एक प्रकाश का काम देते हैं इसी प्रकार तीनों गुण मिल कर पुरुष के उपयोगी अलग २ वस्तुओं को भिन्न २ रूप में उत्पन्न करते हैं । सो यद्यपि गुण बहुत हैं, तौ भी उन का परिणाम एक होने में कोई विरोध नहीं ।

सं०-यहां जगत् को गुणों का कार्य बतलाया है, परन्तु विज्ञानवादी बौद्ध मानते हैं कि विज्ञान से अलग कोई भी वस्तु

नहीं है, विज्ञान ही पृथिवी सूर्य चन्द्र आदि अनेक रूपों से प्रतीत होता है। और इस में युक्ति यह है कि किसी वस्तु के सद्भाव में ज्ञान ही प्रमाण है, बिना ज्ञान के किसी वस्तु का होना प्रमाण नहीं हो सकता। यदि ज्ञान से भिन्न कोई वस्तु होती, तो ज्ञान के बिना भी प्रतीत होती। ज्ञान बिना वस्तु के भी रहता है जैसे स्वप्न में। पर वस्तु बिना ज्ञान के नहीं होती, इस लिये विज्ञान से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। वह विज्ञान चित्तरूप ही है और हर एक का चित्त अनादि वासनाओं से चित्रित है इस लिये उस को अपनी २ वासना के अनुसार भिन्न २ वस्तुएं प्रतीत होती हैं, न कि वास्तव में बाहर कोई वस्तुएं हैं। सो इस व्यामोह के दूर करने के लिये प्रसंगतः इस पक्ष का खंडन करते हैं–

## वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः॥१५॥

अर्थ—( वस्तु-साम्ये ) वस्तु के एक होने पर ( चित्त-भेदात् ) ज्ञानों के भेद से ( तयोः ) उन दोनों का=चित्त और वस्तु का ( विभक्तः ) अलग २ ( पन्थाः ) रस्ता "है"॥

भाष्य—एक ही वस्तु को देख कर एक को सुख होता है, दूसरे को दुःख होता है तीसरा मोह में आजाता है, चौथा बेपरवाही से देखता है, पर वस्तु सब को वही भासती है। अब यदि विज्ञान से भिन्न कोई वस्तु न होती किन्तु ज्ञानमात्र ही होती, तब एक वस्तु अनेक चित्तों का विषय न होती, क्योंकि एक के विज्ञान से जो कल्पना की गई है वह दूसरों के विज्ञान का विषय नहीं हो सकती। परन्तु हम देखते हैं

कि अनेक चित्तों का विषय एक वस्तु होती है, और 'वही यह वस्तु है' इस प्रकार सब को एक ही वस्तु की प्रतीति होती है, इस लिये यह मानना पड़ता है कि चित्त से भिन्न कोई वस्तु अलग अपने स्वरूप में स्थित है।

सं०—अस्तु, यह माना कि ज्ञान से भिन्न वस्तु है तथापि उस की सत्ता चित्त के अधीन ही हो सकती है। जब हम उस को जानते हैं तब यह कह सकते हैं कि वह है, ज्ञान से भिन्न काल में उसके होने में कोई प्रमाण नहीं हो सकता, इस विषय में कहते हैं-

## न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥१६॥

पदार्थ—( न, च ) नहीं ( एक-चित्त-तन्त्रं ) एक चित्त के अधीन ( वस्तु ) वस्तु 'है' ( तत् ) वह ( अप्रमाणकं ) बिना प्रमाण के ( तदा ) उस समय ( किं ) क्या ( स्यात् ) होगी ॥

अन्वयार्थ—ग्राह्य वस्तु एक ज्ञान के अधीन नहीं हो सकती क्योंकि वह उस समय बिना प्रमाण के क्या होगी।

भाष्य—जो यह माना जाता है कि वस्तु ज्ञान के समकाल में ही होती है अन्य काल में नहीं, इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि उस की उत्पत्ति क्या अपने अलग कारण के अधीन है वा चित्त के अधीन है। यदि उस का कारण चित्त से भिन्न है तो उस का चित्त के समकाल में ही होना सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह अपने अलग कारण से उत्पन्न

हुई है, चित्त उस को जाने वा न जाने उस की सत्ता से इनकार नहीं हो सकता। यदि यह माना जाय, कि उसकी उत्पत्ति चित्त के अधीन है, तो यह प्रश्न होगा कि वह किस चित्त के अधीन है, जब किसी एक चित्त के अधीन उस को मानोगे, तो वह चित्त जब किसी दूसरी वस्तु में लगा हुआ है या वह चित्त निरोध समाधि द्वारा निरुद्ध है तो उस समय उस वस्तु के होने में क्या प्रमाण होगा। क्योंकि तुम्हारे पक्ष में उस चित्त के अधीन उस वस्तु की उत्पत्ति और स्थिति है। जो अब उस तरफ़ नहीं। परन्तु वह वस्तु उस समय भी है, क्योंकि दूसरे चित्त उस समय भी उस को देखते हैं। वह वस्तु सारे चित्तों की सांझी प्रतीत होती है इस लिये यह कहना नहीं बन सकता कि वह वस्तु एक चित्त के अधीन है।

सं०--प्रश्न-यदि बाहर के पदार्थ चित्त से अलग अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं तो उन का किसी समय ज्ञान होता है और किसी समय नहीं होता इस में क्या कारण है? इस का उत्तर देते हैं:—

## तदुपरागापेक्षत्वाच्चित्तस्यवस्तुज्ञाताज्ञातम् ।१७

अर्थ—( तदुपरागा-ऽपेक्षत्वात् ) उस के उपराग की अपेक्षा वाला होने से ( चित्तस्य ) चित्त को ( वस्तु ) वस्तु ( ज्ञाता-ऽज्ञातं ) मालूम और बेमालूम " होती है " ॥

अन्वयार्थ--चित्त को वस्तु के जानने में उस के उपराग की अपेक्षा होती है इस लिये वस्तु ज्ञात और अज्ञात होती है ॥

भाष्य--वस्तु का होना एक बात है और उसका जानना दूसरी बात है। उस के जानने के लिये चित्त के साथ उस का सम्बन्ध होना चाहिये और वह सम्बन्ध इस तरह उत्पन्न होता है, बाहर के पदार्थों का सम्बन्ध जब इन्द्रियों के साथ होता है तो इन्द्रियों के द्वारा उन का प्रतिबिम्ब चित्त पर पहुंचता है, यही बाहर के पदार्थों का चित्त के साथ सम्बन्ध है इस संबन्ध से वह वस्तु ज्ञात होती है जब यह संबन्ध नहीं होता तो वस्तु अज्ञात रहती है।

सं०—प्रश्न-जिस तरह वस्तु ज्ञात और अज्ञात होती है इसी तरह क्या चित्त की वृत्तियें भी ज्ञात और अज्ञात होती हैं इस विषय में कहते हैं-

**सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः**
**पुरुषस्यापरिणामत्वात् ॥१८॥**

अर्थ—(सदा-ज्ञाताः) सदा ज्ञात होती हैं (चित्त-वृत्तयः) चित्त की वृत्तियें (तत्प्रभोः) उस के प्रभु=चित्त के प्रभु (पुरुषस्य) पुरुष को (अ-परिणामित्वात्) परिणामी न होने से ॥

भाष्य—बाहर की वस्तु का चित्त के साथ इन्द्रियों द्वारा संबन्ध होता है इस लिये जब वह संबन्ध होता है तो वस्तु ज्ञात होती है और संबन्ध नहीं होता तो वस्तु अज्ञात रहती है । परन्तु चित्त की वृत्तियों को जब आत्मा जानता है। तो उस में किसी दूसरे द्वार की अपेक्षा नहीं होती। चित्त का साक्षात् संबन्ध आत्मा के साथ है इस लिये वह पुरुष से

कभी भी अज्ञात नहीं रह सकता * चाहे किसी अवस्था में हो। चित्त तो कभी बाहर की वस्तु को जानता है और कभी नहीं भी जानता, इससे मानना पड़ता है कि चित्त परिणामी है क्योंकि उस में जानने और न जानने की दो अवस्थाएं बदलती हैं। परन्तु पुरुष सदा चित्त की वृत्तियों को जानता है इस लिये उस की अवस्था नहीं बदलती। अतएव वह अपरिणामी है चित्त और चिति का यह भेद है कि चित्त बाह्य वस्तु के संबन्ध से उस के आकार में परिणत होता है, और चिति बिना परिणत होने के उस परिणामी चित्त को देखती है॥

सं०—जब चित्त ही अग्नि की तरह वस्तु का और अपने आप का भी प्रकाशक हो सकता है, तो उस से अलग आत्मा मानने की क्या आवश्यकता है? इस का उत्तर देते हैं–

## न तत् स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥१९॥

शब्दार्थ—(न) नहीं (तत्) वह=चित्त (स्वाभासम्) स्वप्रकाश (दृश्यत्वात्) दृश्य होने से।

अन्वयार्थ—चित्त स्वप्रकाश नहीं, क्योंकि वह दृश्य है॥

भाष्य—जैसे बाह्य इन्द्रिय और शब्द आदि विषय दृश्य हैं, वे स्वप्रकाश नहीं, इसी प्रकार चित्त भी दृश्य है, वह भी स्वप्रकाश नहीं हो सकता। और न ही अग्नि यहां दृष्टान्त बन

---

* जब किसी बाह्य वस्तु का आकार चित्त में आता है या चित्त में अपने आप ही ज्ञान की, वा इच्छा, राग, द्वेष, सुख दुःख आदि की कोई वृत्ति उत्पन्न होती है तो आत्मा को वह वृत्ति अज्ञात नहीं रह सकती जैसा कि चित्त को बाहर की वस्तु अज्ञात भी रहती है॥

सकता है, अग्नि जड़ रूप है, वह आप अपने को नहीं जानती, उस को जानने के लिये अग्नि से अलग ज्ञान की आवश्यकता है, इसी तरह चित्त भी जड़ है, उस को जानने के लिये अलग प्रकाश की आवश्यकता है, और वह चिति है।

चित्त भी दृश्य है, इस में प्रमाण यह है, कि चित्त में जो परिणाम होता है, वह सदा दीख जाता है। भय, क्रोध, राग, द्वेष आदि चित्त के परिणाम हैं। मैं डरा हुआ हूं, मैं क्रुद्ध हूं, मेरा उस में राग है, मेरा उस में द्वेष है, इत्यादि ज्ञान प्रकट करते हैं, कि चित्त में जो भय, क्रोध आदि हुए हैं, वे किसी दूसरे से देखे गए हैं। वही दूसरा पुरुष है, आत्मा है, चिति है॥

सं०—विज्ञानवादी के मत में और दोष दिखलाते हैं-

## एकसमये चोभयानवधारणम्॥२०॥

अर्थ--( एक-समये, च ) और एक समय में ( उभयानवधारणं ) दोनों का ज्ञान नहीं हो सकता=चित्त और विषय का ज्ञान नहीं हो सकता।

भाष्य—विज्ञानवादी चित्त को क्षणिक मानते हैं, अर्थात् जो उत्पत्ति के क्षण मात्र में ही अवस्थित रहता है, उत्पत्ति के क्षण से अगले क्षण में नहीं रहता, अगले क्षण में नया चित्त उत्पन्न हो जाता है इस प्रकार चित्त की अर्थात् विज्ञान की धारा बनी रहती है, अब इस पक्ष में यह और दोष है कि पहले चित्त उत्पन्न हो तब वह अपने आप को वा वस्तु को जाने, परन्तु उन के पक्ष में उत्पत्तिक्षण से पीछे चित्त अवस्थित ही

नहीं रहता तो वह किस तरह वस्तु को वा अपने आप को जाने, यदि ऐसा भी माना जाए कि वह उत्पत्ति रूप क्रिया से ही अपने आप को जान लेता है तो भी वह उसी क्रिया से विषय को नहीं जान सकता, क्योंकि भिन्न प्रकार के कार्यों के लिये भिन्न कारण का होना आवश्यक है और यहां कारण एक उत्पत्तिरूप क्रिया है, इस लिये उस से दो भिन्न प्रकार के कार्य नहीं हो सकते । और उसी क्षण में दूसरी कोई क्रिया हो नहीं सकती अगले क्षण में वह आप ही नहीं रहता तो वह दूसरे का निश्चय कैसे करेगा । इस लिये क्षणिक विज्ञानवादी के मत में एक साथ चित्त का और विषय का जानना किसी तरह भी नहीं बन सकता ।

सं०--प्रश्न-चित्त से विषय देखा जाता है और वह चित्त अगले चित्त से देखा जाता है ऐसा मानने में तो विषय का और चित्त का दोनों का ज्ञान हो सकता है, इस का उत्तर देते हैं—

## चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥२१॥

शब्दार्थ—( चित्तान्तर-दृश्ये ) दूसरे चित्त से ग्राह्य होने पर (बुद्धि-बुद्धेः) बुद्धि की बुद्धि की ( अतिप्रसंगः ) अनवस्था ( स्मृति-संकरः, च ) और स्मृति का संकर ।

अन्वयार्थ--यदि पहले चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य माना जाए तो ज्ञान के ज्ञान की अनवस्था होगी और स्मृतियों का संकर हो जाएगा ।

भाष्य—विज्ञानवादी के मत में चित्त, बुद्धि और विज्ञान एक ही है। अब हमारा व्यवहार प्रकट करता है, कि चित्त भी दृश्य है और वह किसी दूसरे से देखा जाता है ( देखो ४।१८), वह दूसरा कौन है ? योग इस का उत्तर देता है कि वह पुरुष है, विज्ञानवादी कहता है, नहीं, वह भी चित्त है, जो उस पहले चित्त के पीछे उत्पन्न हुआ है। अब इस का उत्तर यह है, कि पहले चित्त ने विषय को देखा ( विषयाकार हुआ ) अब यह चित्त दृश्य है, उस को दूसरे चित्त ने देखा, फिर वह भी चित्त है और इस लिये दृश्य है, उस को तीसरे चित्त ने देखा, फिर वह भी चित्त दृश्य है, उस को चौथे चित्त ने देखा। इस प्रकार कहीं भी समाप्ति न होकर अनवस्था दोष आएगा अर्थात् पहले किसी वस्तु का ज्ञान, फिर उस वस्तु के ज्ञान का ज्ञान, फिर उस वस्तु के ज्ञान के ज्ञान का ज्ञान इत्यादि प्रकार से एक ज्ञान भी कभी समाप्त नहीं होने पाएगा, क्योंकि जो ज्ञान उत्पन्न होगा, वह दृश्य ही होगा, उस को आगे २ द्रष्टा की आवश्यकता बराबर बनी रहेगी।

स्मृतिसंकर—फिर जितनी बुद्धियों का अनुभव हुआ है, उतनी ही स्मृतियें होंगी। और अनुभव पूर्वोक्त प्रकार से अनन्त हुए हैं, जब उनको स्मृति होने लगेगी, तो उसी तरह एक साथ बेठिकाने स्मरण होंगे उन स्मृतियों के मेल जोल में रह एक स्मृति रुल जाएगी और कुछ पता नहीं लगेगा। परन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये चित्त से परे अवश्य कोई और शक्ति है, जो चित्त की द्रष्ट्री है, और वह शक्ति केवल द्रष्ट्री है। न कि दृश्या॥

सं०—(प्रश्न) यदि चित्त न स्वप्रकाश है, न दूसरे चित्त का दृश्य होता है, तब चित्त का अनुभव कैसे होता है, यह आशंका करके अपना सिद्धान्त बतलाते हैं-

## चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—(चितेः) चिति का (अ-प्रति संक्रमायाः) जिस में चलना अर्थात् क्रिया नहीं होती उस का (तदाकारा-ऽऽपत्तौ) तदाकार अर्थात् चित्ताकार होने पर (स्व-बुद्धि-संवेदनम्) अपनी बुद्धि का अनुभव।

अन्वयार्थ—यद्यपि चिति में कोई क्रिया नहीं होती, तथापि वह चित्त के समानस्वरूप होने में अपनी बुद्धि को अनुभव करती है।

भाष्य—विषय के ज्ञानकाल में जैसे चित्त में परिणाम होता है, वैसे चित्त के अनुभव करने में पुरुष में कोई परिणाम नहीं होता। पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हुआ ही चित्त को देख लेता है, क्योंकि चित्त दृश्य है और वह द्रष्टा है। और वह उसे देखता हुआ उसी के रंग में रंगा हुआ प्रतीत होता है। चित्त शान्त हो, तो पुरुष शान्त प्रतीत होता है, और चित्त दुःखी हो, तो पुरुष दुःखी प्रतीत होता है, पर वस्तुतः शान्ति और दुःख का जो परिणाम है, वह चित्त में होता है, पुरुष के स्वरूप में कोई क्रिया, कोई तबदीली नहीं होती।

सं०—इस प्रकार एक ओर तो चित्त से भिन्न बाह्य वस्तु

और दूसरी ओर चित्त से अलग आत्मा का स्थापन करके अब यह दिखलाते हैं, कि बौद्ध जो चित्त से भिन्न न तो बाह्य वस्तु मानते हैं, और न चित्त से अलग आत्मा को मानते हैं, उन को यह भ्रान्ति क्यों हुई है—

**द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥२३॥**

अर्थ—( द्रष्टृ-दृश्योपरक्तम् ) द्रष्टा और दृश्य से रंगा हुआ ( चित्तम् ) चित्त ( सर्वा-ऽर्थम् ) सारे विषयों वाला= सारे आकारों वाला ' होता है ' ॥

भाष्य—बाहर की वस्तु बाहर है, जब हम उसे देखते हैं, तो वह हमारे अन्दर नहीं चली जाती, चित्त विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध से इन्द्रियों के द्वारा चित्त में जाकर क्रिया होती है, जिस से चित्त उस वस्तु के आकार को धारण करता है, यही उस वस्तु का जानना है । सो एक ओर तो चित्त बाह्य वस्तु के आकार को धारण करता है, और दूसरी ओर चिति की छाया लेकर अचेतन भी चेतन सा प्रतीत होता है । जैसे बिल्लौर के पास नीली और लाल दो वस्तुएं रखदें, तो वह दो रंग भी उस में प्रतीत होंगे, और उस का अपना रंग तीसरा श्वेत है । इसी प्रकार चिति के रंग से रंगा हुआ चित्त चेतन प्रतीत होता है, इस लिये उन को यह भ्रान्ति हुई है, कि चित्त से अलग कोई चेतन नहीं । और चित्त बाह्य रंग से रंगा हुआ तदाकार प्रतीत होता है, इस लिये यह दूसरी भ्रान्ति हुई है, कि चित्तमात्र ही यह सारा जगत् है, बाहर कोई वस्तु नहीं । इस प्रकार यह दोनों बाहर के रंग चित्त में आजाने से चित्त

ही ग्राह्य ( ज्ञेय, विषय ) और ग्रहीता ( ज्ञाता, विषयी ) रूप प्रतीत होता है, पर वस्तुतः ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता तीनों अलग २ हैं, विषय ग्राह्य हैं, आत्मा ग्रहीता है और चित्त ग्रहण है ॥

सं०--(प्रश्न) जब अनेक प्रकार की वासनाएं जो भोग का हेतु हैं, वे चित्त में रहती हैं, तो फिर चित्त को ही भोक्ता क्यों न मान लिया जाए, चित्त से परे एक भोक्ता पुरुष मानने की क्या आवश्यकता है इस का उत्तर कहते हैं-

## तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

अर्थ--( तत् ) वह ( असंख्येय-वासनाभिः ) अनगिन्त वासनाओं से ( चित्रम्, अपि ) चितरा हुआ भी ( परा-ऽर्थम् ) दूसरे के लिये 'है' ( संहत्य-कारित्वात् ) संहत्यकारी * होने से ॥

---

* जैसे तीन लड़ी मेलने से एक रस्सी काम की वस्तु बन जाती है, अलग २ तन्तु रस्सी का काम नहीं देते, इस प्रकार जो वस्तु काम की बनती है, उसे संहत्यकारी कहते हैं । चित्त भी सत्त्व, रजस्, तमस् के मेल से प्रकाशने वाला बना है । यह भी संहत्यकारी है । संहत्यकारी हर एक वस्तु दूसरे के लिये होती है । वह दूसरा भी यदि संहत्यकारी हो, तो वह आगे किसी दूसरे के लिये होता है । जैसे मट्टी ईंटें बनाने के लिये है, ईंटें घर बनाने के लिये हैं, घर सुख के सामान रखने के लिये है, सुख के सामान शरीर के आराम के लिये है, शरीर

भाष्य--जो वस्तु मिल कर काम की बनती है, वह अवश्य अपने से भिन्न किसी दूसरे के प्रयोजन के लिये होती है, जैसे शय्या, आसन, घर आदि हैं। इसी प्रकार सत्व, रजस्, तमस् भी अङ्गाङ्गिभाव से मिलकर चित्त को बनाते हैं, इस लिये चित्त भी अपने से भिन्न किसी दूसरे के लिये होना चाहिये। चित्त जब सुख वा दुःख के रूप में परिणत होता है, तो वह अपने लिये नहीं किन्तु दूसरे के लिये होता है, और जब ज्ञान के रूप में परिणत होता है, तौ भी अपने लिये नहीं किन्तु किसी दूसरे के प्रयोजन के लिये होता है। सो चित्त यद्यपि अनेक वासनाओं से चितरा हुआ होता है। तथापि उस में अपवर्ग के लिये जो परिणाम होता है, वह दूसरे के प्रयोजन के लिये होता है। क्योंकि चित्त संहत्यकारी है।

सं०--इस प्रकार युक्ति द्वारा चित्त और आत्मा का भेद दिखलाया है। अब यह दिखलाते हैं, कि जब योग द्वारा यह भेद साक्षात् कर लिया जाता है, तो यह सारा विचार आप ही समाप्त हो जाता है-

## विशेषदर्शिन आत्मभावभावना-विनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

अर्थ--( विशेष-दर्शिनः ) भेद देखने वाले की ( आत्म-भाव भावना-विनिवृत्तिः ) आत्मभाव की भावना निवृत्त "होती है"॥

---

आत्मा के लिये है। यहां पहुंच कर यह सिलसिला समाप्त होता है क्योंकि आत्मा संहत्यकारी नहीं।

भाष्य--जब योगी समाधि द्वारा चित्त और पुरुष के भेद को साक्षात् देख लेता है, तो वह देख लेता है, कि यह सारा विचित्र परिणाम चित्त का ही है, न कि पुरुष का। पुरुष तो चित्त के धर्मों से न छुआ हुआ सदा एकरस है। तब उस की आत्मभाव की चिन्ता "कि मैं कौन था? कैसे था? यह क्या है? कैसे है? आगे हम क्या होंगे? कैसे होंगे?" सब मिट जाती है।

## तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारंचित्तम् ॥२६॥

अर्थ—(तदा) तब (विवेक-निम्नम्) विवेक की ढलवान वाला (कैवल्य-प्राग्भारम्) कैवल्य की अवधि वाला (चित्तम्) चित्त "होता है"।

भाष्य—पानी ढलवान की ओर बहता है, और वहां जा ठहरता है, जहां अगले किनारे फिर ऊंचे होते हैं, उस ठहरने की जगह को प्राग्भार कहते हैं। सो योगी के चित्त का प्रवाह जो पहले अज्ञान के मार्ग में बहता हुआ विषयों की तर्फ़ दौड़ता है, अब वह उस से उलटा विवेक के मार्ग में बहता हुआ कैवल्य की खाड़ी में जा मिलता है।

सं०—(प्रश्न) यदि योगी का चित्त विवेक के मार्ग में बह रहा है, तो फिर व्युत्थान की वृत्तियें नहीं होनी चाहियें, परन्तु उस की व्युत्थान की वृत्तियां देखी जाती हैं, इस का उत्तर देते हैं—

## तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥२७॥

अर्थ—( तच्छिद्रेषु ) उस के छिद्रों में ( प्रत्यया-ऽन्तराणि ) दूसरी वृत्तियें=व्युत्थान की वृत्तियें ( संस्कारेभ्यः ) संस्कारों से " होती हैं " ॥

भाष्य—जब तक योगी का चित्त विवेक की ओर झुका रहता है, तब तक तो उस में व्युत्थान की वृत्तियां नहीं होतीं, पर जब २ चित्त उस विचार से छूटता है, तब २ व्युत्थान के संस्कार व्युत्थान की वृत्तियों (यह मैं हूं, यह मेरा है, मैं जानता हूं, मैं नहीं जानता हूं, इत्यादि ) को उत्पन्न कर देते हैं। चित्त का विवेक से छूटना ही व्युत्थान के संस्कारों को अपना काम करने के लिये छिद्र मिलता है।

सं०—( प्रश्न ) विवेकज्ञान हो जाने पर भी यदि व्युत्थान के संस्कार व्युत्थान की वृत्तियों को उत्पन्न करते हैं तो फिर उन संस्कारों के मिटाने का क्या उपाय है, जिस से वह व्युत्थान की वृत्तियों को उत्पन्न न कर सकें ? इस का उत्तर देते हैं—

## हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८॥

शब्दार्थ—( हानम् ) निवृत्ति ( एषां ) इनकी ( क्लेशवत् ) क्लेशों की नाईं ( उक्तम् ) कही गई है।

इन की निवृत्ति क्लेशों की निवृत्ति की नाईं जाननी चाहिये ॥

भाष्य—क्लेश क्रियायोग से सूक्ष्म होते हैं, और ज्ञान की अग्नि से दग्ध हो कर फिर उगने के योग्य नहीं रहते। इसी उपाय से व्युत्थान के संस्कार भी दग्ध हो जाते हैं, उन

के लिये कोई अलग उपाय ढूंढने की आवश्यकता नहीं, उन के दग्ध हो जाने पर फिर व्युत्थान की वृत्तियां उत्पन्न नहीं होतीं ॥

सं०—क्लेशों की निवृत्ति कैसे होती है इस का उत्तर दो सूत्रों से कहते हैं-

## प्रसंख्यानेप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

अर्थ—( प्रसंख्याने, अपि ) विवेकख्याति में भी ( अकुसीदस्य ) जो विरक्त है, उस को ( सर्वथा-विवेक-ख्यातेः ) निरन्तर विवेक ज्ञान के उदय होने से ( धर्म-मेघः, समाधिः ) धर्ममेघ समाधि " होती है " ॥

भाष्य—जब योगी विवेक ज्ञान से भी कोई फल नहीं चाहता, उससे भी विरक्त हो जाता है, तब उस के अभ्यास की प्रबलता से व्युत्थान की वृत्तियें बिल्कुल रुक कर लगातार विवेकज्ञान का प्रभाव बहने लगता है। यह जो ज्ञान की परिपक्व अवस्था है, इसे धर्ममेघ समाधि कहते हैं।

सम्प्रज्ञात समाधि का फल विवेकख्याति ( प्रसंख्यान ) है, विवेकख्याति की पराकाष्ठा धर्ममेघ समाधि है, इस समाधि के संस्कारों से व्युत्थान के संस्कार सर्वथा निरुद्ध हो जाते हैं। पर इस समाधि की पराकाष्ठा ज्ञानप्रसाद नामी परवैराग्य है, जिस के उदय से विवेक ख्याति भी निरुद्ध हो कर निर्बीज समाधि सिद्ध होती है।

## ततः क्लेशकर्म निवृत्तिः ॥ ३० ॥

अर्थ--( ततः ) उस से=धर्ममेघसमाधि से (क्लेश-कर्म निवृत्तिः ) क्लेशों की और कर्मों की निवृत्ति " होती है "।

भाष्य—धर्ममेघ समाधि के लाभ से अविद्या आदि क्लेश और शुक्ल अशुक्ल आदि कर्म सब जड़ समेत उखड़ जाते हैं। तब क्लेश और कर्म की निवृत्ति हो जाने पर योगी जीवन्मुक्त ( जीता हुआ ही मुक्त ) हो जाता है।

सं०—क्लेश और कर्मों की निवृत्ति होने पर फिर क्या होता है ?

## तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्या नन्त्याज् ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—( तदा ) तब-क्लेश कर्मों की निवृत्ति के पीछे ( सर्वा-ऽऽवरण-मला-ऽपेतस्य ) सारी ढकने वाली मलों से अलग हुए ( ज्ञानस्य ) चित्त के=चित्त के प्रकाश के ( आन-न्त्यात् ) अनन्त होने से ( ज्ञेयम् ) ज्ञेय ( अल्पम् ) थोड़ा।

अन्वयार्थ—तब सारी ढकने वाली मलों से अलग हुआ प्रकाश बेहद्द हो जाता है, और उस से जानने योग्य वस्तु थोड़ी होती है।

भाष्य—चित्त प्रकाशशील है, वह स्वभावतः हर एक वस्तु के प्रकाश करने में समर्थ है, पर उस के प्रकाश को क्लेश और कर्मों की वासनाओं ने ढांप दिया हुआ है जैसे

चन्द्र के प्रकाश को मेघ ढांप देते हैं, इस लिये वह कुछ थोड़ी सी वस्तुओं को प्रकाशित करता है न कि हर एक को। फिर जब धर्ममेघसमाधि में यह सारे परदे उस से हट जाते हैं, सारे मल दूर हो जाते हैं। तो जैसे चन्द्रमा बादलों से निकल कर चारों तरफ प्रकाश फैला देता है, इस प्रकार चित्त चारों तरफ प्रकाश फैला देता है। अब चित्त का प्रकाश इतना बड़ा है, कि कोई वस्तु उस से अज्ञात नहीं रह सकती, जो कुछ है, वह सब प्रकाशित हो जाता है, यदि कुछ और भी होता तो वह भी प्रकाशित हो जाता अब प्रकाश (ज्ञान) की कमी नहीं, कमी प्रकाश (ज्ञेय) की है। अब विषय अल्प है, और प्रकाश अनन्त है। यही धर्ममेघ समाधि की जो परा काष्ठा है, इसी का नाम ज्ञानप्रसादमात्र है। इस योगी को पुरुष प्रकृति और प्रकृति के सारे कार्य इस तरह प्रत्यक्ष हो जाते हैं, जैसे हथेली पर रक्खा हुआ आँवला प्रत्यक्ष होता है। इस निर्मल ज्ञान के फैल जाने से दिव्य विषयों के दोष भी साक्षात् दीखते हैं। तब चित्त बाह्य विषयों में से कुछ नहीं चाहता। इसी का नाम परवैराग्य है, यह परवैराग्य व्युत्थान के संस्कारों को उखाड़ देता है, और चित्त को निर्बीज समाधि में लगा देता है॥

सं०—(प्रश्न) धर्म मेघ समाधि से क्लेश कर्मों की निवृत्ति हो, पर गुण जो स्वतः ही परिणाम के स्वभाव वाले हैं, वह वैसे पुरुष के लिये भी देह और इन्द्रियों को क्यों नहीं उत्पन्न करते? इस का उत्तर देते हैं :-

## ततः कृतार्थानां परिणामक्रम समाप्तिर्गुणानाम् ॥३२॥

शब्दार्थ—(ततः) तब (कृतार्थानाम्) कृतार्थ हुए (परि-णाम-क्रम-समाप्तिः) परिणाम के क्रम की समाप्ति (गुणानाम्) गुणों की ॥

अन्वयार्थ—तब कृतार्थ हुए गुणों के परिणाम क्रम की समाप्ति "हो जाती है" ॥

भाष्य—गुणों की प्रवृत्ति पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये है, जब तक पुरुष इन दोनों को नहीं पा लेता, तब तक वह उस के लिये अपने परिणाम के क्रम (देह इन्द्रिय आदि के आरम्भ) को बराबर जारी रखते हैं। पहले अनिष्ट भोगों में ठोकरें देकर उस से चित्त को हटा देते हैं, पर इष्ट भोगों में अशुद्धि और परिणाम आदि दोष दिखला कर उस से वैराग्य उत्पन्न करके अपवर्ग की ओर लेआते हैं। ज्यों २ मनुष्य सुमार्ग पर आता जाता है, त्यों २ उस के लिये उत्त-मोत्तम परिणामक्रम (देह इन्द्रिय आदि का आरंभ) प्रकट करते हुए अन्ततः अपवर्ग के योग्य चित्त को उत्पन्न करते हैं। जब अपवर्ग मिल गया, तो फिर उस पुरुष के लिये कोई काम इन का शेष नहीं रतता। अब यह उस की ओर से कृतार्थ हो कर अपना परिणामक्रम बंद कर देते हैं। और दूसरों की सेवा में लग जाते हैं, क्योंकि यह उस के अधीन प्रवृत्त हैं, जो सब का कल्याण चाहता है।

सं०—(प्रश्न) परिणाम का क्रम क्या है? –

## क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्त निर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

अर्थ—(क्षण-प्रतियोगी) क्षण जिस का प्रकट करने वाला (परिणामा-ऽपरान्त-निर्ग्राह्यः) परिणाम की समाप्ति से जिस का ज्ञान 'होता है वह' (क्रमः) क्रम 'है'॥

भाष्य—एक पक्की ईंट चाहे कितनी देर के पीछे पुरानी हो, पर एक दिन वह अवश्य पुरानी जीर्ण हो जाती है। पहले उस का तोड़ना बहुत कठिन था, पर अब हाथ लगाने से भुर जाती है। यह जीर्णता उस में किसी एक दिन में नहीं आगई, किन्तु प्रतिक्षण उस में परिणाम होता रहा है। पहले क्षण में उस में इतना सूक्ष्म परिणाम हुआ है, कि वह कुछ भी मालूम नहीं होता, इसी तरह कई क्षणों तक वा कई दिनों तक का परिणाम ऐसा सूक्ष्म रहता है, कि उसका कुछ पता नहीं लगता धीरे २ वह निपुण दृष्टि से प्रतीत होने लगता है, अन्ततः इतना स्थूल हो जाता है, कि मोटे तौर पर देखने से भी बड़ा साफ दिखलाई देता है, अब परिणाम का सिलसिला जो एक दूसरे सिरे तक पहुंच गया है, अब बड़ा स्पष्ट दीखता है, पर यह एक २ क्षण में होता चला आया है। यही गुणों के परिणाम और लक्षण परिणाम का क्रम है। अर्थात् परिणामों के जो आगे पीछे की एक धारा है, यह क्रम है॥

यह क्रम तीनों परिणामों में पाया जाता है, एक फूल

का बनना भी बहुत से परिणामों का एक फल है, और उस का सूख कर झड़ जाना भी बहुत से परिणामों का एक फल है। धर्म और लक्षण परिणाम का क्रम तो कदाचित् प्रत्यक्ष भी दीखता है, पर अवस्थापरिणाम का क्रम किसी प्रकार भी प्रत्यक्ष नहीं होता, उस का अन्तिम फल जा कर प्रत्यक्ष होता है ॥

सं०—गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति में जो कैवल्य कहा है, उस का स्वरूप निर्धारण करते हैं :-

## पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥ ३५ ॥

अर्थ—(पुरुषार्थ-शून्यानाम्) पुरुषार्थ से शून्य हुए (गुणानाम्) गुणों का (प्रतिप्रसवः) प्रलीन होना (कैवल्यम्) कैवल्य "है" (स्वरूप-प्रतिष्ठा, वा) अथवा अपने स्वरूप में अवस्थित हुई (चिति-शक्तिः) चिति शक्ति "कैवल्य है" (इति *)

भाष्य—गुणों की प्रवृत्ति भोग और अपवर्ग के लिये है और भोग और अपवर्ग पुरुषार्थ हैं। सो ये गुण जो शरीर इन्द्रिय और बुद्धि के रूप में परिणत हुए हैं, ये जब पुरुष के लिये भोग और अपवर्ग सम्पादन कर देते हैं, तो फिर उस पुरुष के लिये इन का कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता, तब ये पुरुषार्थ से शून्य हुए गुण अपने २ कारण में लीन हो जाते हैं,

* इति शब्द पाद और शास्त्र की समाप्ति के लिये है।

लय का क्रम यह है, व्युत्थान, समाधि और निरोध के संस्कार मन में लीन होते हैं, मन अस्मिता में, अस्मिता बुद्धि में, बुद्धि प्रकृति में लीन होती है । यह जो गुणों का लीन होना है, यह कैवल्य है, प्रकृति का उस पुरुष से अलग होना है ।

इस अवस्था में चितिशक्ति अपने स्वरूप में अवस्थित होती है, इस लिये अथवा यूं कह सकते हैं, कि चितिशक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित होना कैवल्य है । अब पुरुष प्रकृति और उस के विकारों से अलग है ।

मुक्त्यर्हं चित्तं परलोकमेयस्ससिद्धयो धर्मघनः समाधिः । द्वयी च मुक्तिः प्रतिपादिताऽस्मिन् पादे प्रसङ्गादपि चान्यदुक्तम् ॥

इस पाद में यह विषय कहे हैं (१) मुक्ति के योग्य चित्त ( सूत्र ४ ) । ( २ ) परलोक की सिद्धि ( सूत्र ७-१० ) । बाह्य अर्थ की सिद्धि ( सूत्र १५-१६ ) । ( ४ ) पुरुष की सिद्धि (सूत्र १६-२५ ) । ( ५ ) धर्ममेघ समाधि ( २६ ) । ( ६ ) जीवन्मुक्ति ( सूत्र ३० ) । ( ७ ) और विदेहमुक्ति ( सूत्र ३४ ) और प्रसंग से और भी बहुत कुछ निरूपण किया है ।

निदानं तापानामुदितमथतापाश्च कथिताः । सहाङ्गै रष्टाभिर्विहितमिह योगद्वयमपि ।

**कृतो मुक्तेरध्वा गुण पुरुषभेदः स्फुटतरः ।**
**विविक्तं कैवल्यं परिगलिततापा चितिरसौ ॥**

इस शास्त्र में दुःखों का कारण और दुःख का स्वरूप बतलाया है । आठ अंगों समेत दोनों योग (कर्म योग और ध्यानयोग) बतलाए हैं । मुक्ति का मार्ग जो गुण और पुरुष का भेदज्ञान है, उस को पूरा स्फुट किया है । कैवल्य की विवेचना की है, कि क्लेश कर्म से रहित हुई चिति ही कैवल्य है ॥

इति योगदर्शनं समाप्तम् ।

## ओ३म्

**शान्तिः ! शान्ति !! शान्ति !!!**

# विद्या भाण्डार-ग्रन्थमाला ।

विद्या की वृद्धि चाहने वाले महानुभाव यह पढ़ कर प्रसन्न होंगे, कि उक्त नाम की एक नई ग्रन्थमाला छपनी आरम्भ हुई है, जिस में संस्कृत और हिन्दी भाषा के वे ग्रन्थ छपा करेंगे, जो (१) उच्च कोटि के ग्रन्थ हैं, और अभी तक बिन छपे पड़े हैं (२) हिन्दी भाषा के नवीन ग्रन्थ जो, धर्म, नीति, इतिहास, विज्ञान और समाजशास्त्र के विषय में उच्च कोटि की शिक्षा दें, ये उस २ विषय के धुरन्धर पण्डितों से तय्यार करवाए जायेंगे । (३) शास्त्रों के गूढ़ अर्थों के खोलने वाले ग्रन्थ । (४) वेदशास्त्र के पठन पाठन को सरल बनाने वाले ग्रन्थ ।

## नियत ग्राहक ।

१) रुपया प्रवेश शुल्क देकर हरएक पुरुष इसका नियत ग्राहक हो सकता है । नियत ग्राहक को ग्रन्थमाला के हर एक पुस्तक पर २५) प्रति सैंकड़ा कमीशन मिलेगा ।

मूल्य हर एक पुस्तक का अलग रहेगा, और एक वर्ष में चार रुपये तक के पुस्तक भेजने का अधिकार होगा ।

आशा है, धर्म और विद्या के अनुरागी सज्जनजन इसके नियत ग्राहक बनकर लाभ उठायेंगे ।

**पं० राजाराम प्रोफेसर डी. ए. वी. कालेज लाहौर ।**